रचना संसार

हिन्दी एवं संस्कृत नाटकों का परिचय

Rachna Sansar: Introduction to Hindi and Sanskrit Plays

साहिल सक्सेना

रचना संसार : हिन्दी एवं संस्कृत नाटकों का परिचय

रचना संसार : हिन्दी एवं संस्कृत नाटकों का परिचय

(Rachna Sansar: Introduction to Hindi and Sanskrit Plays)

साहिल सक्सेना

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-6112-1

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

हिंदी में नाटकों का प्रारंभ भारतेन्दु हरिश्चंद्र से माना जाता है। उस काल के भारतेन्दु तथा उनके समकालीन नाटककारों ने लोक चेतना के विकास के लिए नाटकों की रचना की, इसलिए उस समय की सामाजिक समस्याओं को नाटकों में अभिव्यक्त होने का अच्छा अवसर मिला।

जैसाकि कहा जा चुका है, हिन्दी में अव्यावसायिक साहित्यिक रंगमंच के निर्माण का श्रीगणेश आगाहसन 'अमानत' लखनवी के 'इंदर सभा' नामक गीति-रूपक से माना जा सकता है, पर सच तो यह है कि 'इंदर सभा' की वास्तव में रंगमंचीय कृति नहीं थी। इसमें शामियाने के नीचे खुला स्टेज रहता था। नौटंकी की तरह तीन ओर दर्शक बैठते थे, एक ओर तख्त पर राजा इंदर का आसन लगा दिया जाता था, साथ में परियों के लिए कुर्सियाँ रखी जाती थीं। साजिंदों के पीछे एक लाल रंग का पर्दा लटका दिया जाता था। इसी के पीछे से पात्रों का प्रवेश कराया जाता था। राजा इंदर, परियाँ आदि पात्र एक बार आकर वहीं उपस्थित रहते थे, वे अपने संवाद बोलकर वापस नहीं जाते थे।

उस समय नाट्यारंगन इतना लोकप्रिय हुआ कि अमानत की 'इंदर सभा' के अनुकरण पर कई सभाएँ रची गई, जैसे–'मदारीलाल की इंदर सभा', 'दर्याई इंदर सभा', 'हवाई इंदर सभा' आदि। पारसी नाटक मंडलियों ने भी इन सभाओं और मजलिसेपरिस्तान को अपनाया। ये रचनाएँ नाटक नहीं थी और न ही इनसे हिन्दी का रंगमंच निर्मित हुआ। इसी से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इनको 'नाटकाभास' कहते थे। उन्होंने इनकी पैरोडी के रूप में 'बंदर सभा' लिखी थी।

संस्कृत नाटक रसप्रधान होते हैं। इनमें समय और स्थान की अन्विति नहीं पाई जाती। अपनी रचना-प्रक्रिया में नाटक मूलतः काव्य का ही एक प्रकार है। सूसन के लैंगर के अनुसार भी नाटक रंगमंच का काव्य ही नहीं, रंगमंच में काव्य भी है। संस्कृत नाट्यपरम्परा में भी नाटक काव्य है और एक विशेष प्रकार का काव्य है, दृश्यकाव्य। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' कहकर उसकी विशिष्टता ही रेखांकित की गयी है।

लेखन से लेकर प्रस्तुतिकरण तक नाटक में कई कलाओं का संश्लिष्ट रूप होता है-तब कहीं वह अखण्ड सत्य और काव्यात्मक सौन्दर्य की विलक्षण सृष्टि कर पाता है। रंगमंच पर भी एक काव्य की सृष्टि होती है, विभिन्न माध्यमों से, कलाओं से जिससे रंगमंच एक कार्य का, कृति का रूप लेता है। आस्वादन और सम्प्रेषण दोनों साथ-साथ चलते हैं। अनेक प्रकार के भावों, अवस्थाओं से युक्त, रस भाव, क्रियाओं के अभिनय, कर्म द्वारा संसार को सुख-शान्ति देने वाला यह नाट्य इसीलिए हमारे यहाँ विलक्षण कृति माना गया है।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**नाटक**	**1**
	परिचय	1
	नाटक शब्दावली	2
	संवाद	6
2.	**हिन्दी नाटक**	**12**
	हिन्दी रंगमंच और भारतेन्दु हरिश्चंद्र	13
3.	**सत्य हरिश्चन्द्र**	**19**
4.	**भारतदुर्दशा**	**67**
5.	**ध्रुवस्वामिनी**	**90**
6.	**संस्कृत नाटक**	**128**
	संस्कृत नाटक विकास	129
	परिचय	134
7.	**अभिज्ञान शाकुन्तलम्**	**138**
	मौलिक न होने पर भी मौलिक	138
	काव्य-सौन्दर्य	142
8.	**मालविकाग्निमित्रम्**	**145**
	कथावस्तु	146

संगठन एवं कथा-संयोजन 147
9. विक्रमोर्वशीयम् 155
10. स्वप्नवासवदत्ता 168
कथानक 168
11. उरुभंग 171
सारांश 171
दुर्योधन 172
12. मुद्राराक्षस 173
परिचय 174
कथानक 175
13. मृच्छकटिकम् 178
दस अंकों का परिचय 179
साहित्यिक समीक्षा 183
14. उत्तररामचरितम् 186
कथा 187

1

नाटक

नाटक काव्य और गध्य का एक रूप है। जो रचना श्रवण द्वारा ही नहीं, अपितु दृष्टि द्वारा भी दर्शकों के हृदय में रसानुभूति कराती है, उसे नाटक या दृश्य-काव्य कहते हैं। नाटक में श्रव्य काव्य से अधिक रमणीयता होती है। श्रव्य काव्य होने के कारण यह लोक चेतना से अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। नाट्यशास्त्र में लोक चेतना को नाटक के लेखन और मंचन की मूल प्रेरणा माना गया है।

परिचय

नाटक की गिनती काव्यों में है। काव्य दो प्रकार के माने गये हैं–श्रव्य और दृश्य। इसी दृश्य काव्य का एक भेद नाटक माना गया है, पर दृष्टि द्वारा मुख्य रूप से इसका ग्रहण होने के कारण दृश्य काव्य मात्र को नाटक कहने लगे हैं।

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र इस विषय का सबसे प्राचीन ग्रंथ मिलता है। अग्निपुराण में भी नाटक के लक्षण आदि का निरूपण है। उसमें एक प्रकार के काव्य का नाम प्रकीर्ण कहा गया है। इस प्रकीर्ण के दो भेद है–काव्य और अभिनेय। अग्निपुराण में दृश्य काव्य या रूपक के 27 भेद कहे गए हैं–'**:** नाटक, प्रकरण, डिम, ईहामृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी, अंक, त्रोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीनिगदित, नाट्यरासक, रासक, उल्लाप्यक और प्रेक्षण।'

साहित्यदर्पण में नाटक के लक्षण, भेद आदि अधिक स्पष्ट रूप से दिए हैं।

ऊपर लिखा जा चुका है कि दृश्य काव्य के एक भेद का नाम नाटक है। दृश्य काव्य के मुख्य दो विभाग हैं–रूपक और उप रूपक। रूपक के दस भेद हैं–रूपक, नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, ड़िम, ईहामृग, अंकवीथी और प्रहसन। 'उप रूपक' के अठारह भेद हैं–नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेक्षणा, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिंपक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीशा और भणिका।

उपर्युक्त भेदों के अनुसार नाटक शब्द दृश्य काव्य मात्र के अर्थ में बोलते हैं। साहित्यदर्पण के अनुसार नाटक किसी ख्यात वृत्त (प्रसिद्ध आख्यान, कल्पित नहीं)' की लेकर लिखाना चाहिए। वह बहुत प्रकार के विलास, सुख, दु:ख, तथा अनेक रसों से युक्त होना चाहिए। उसमें पाँच से लेकर दस तक अंक होने चाहिए। नाटक का नायक धीरोदात्त तथा प्रख्यात वंश का कोई प्रतापी पुरुष या राजर्षि होना चाहिए। नाटक के प्रधान या अंगी रस श्रृंगार और वीर हैं। शेष रस गौण रूप से आते हैं। शांति, करुणा आदि, जिस रुपक में में प्रथान हो वह नाटक नहीं कहला सकता। संधिस्थल में कोई विस्मयजनक व्यापार होना चाहिए। उपसंहार में मंगल ही दिखाया जाना चाहिए। वियोगांत नाटक संस्कृत अलंकार शास्त्र के विरुद्ध है।

नाटक शब्दावली

अभिनय आरंभ होने के पहले जो क्रिया (मंगलाचरण नांदी) होती है, उसे पूर्वरंग कहते हैं। पूर्वरंग, के उपरांत प्रधान नट या सूत्रधार, जिसे स्थापक भी कहते हैं, आकर सभा की प्रशंसा करता है, फिर नट, नटी सूत्रधार इत्यादि परस्पर वार्तालाप करते हैं, जिसमें खेले जाने वाले नाटक का प्रस्ताव, कवि–वंश–वर्णन आदि विषय आ जाते हैं। नाटक के इस अंश को प्रस्तावना कहते हैं। जिस इतिवृत्त को लेकर नाटक रचा जाता है, उसे 'वस्तु' कहते हैं। 'वस्तु' दो प्रकार की होती है–आधिकारिक वस्तु और प्रासंगिक वस्तु, जो समस्त इतिवृत्त का प्रधान नायक होता है, उसे 'अधिकारी' कहते हैं। इस अधिकारी के संबंध में जो कुछ वर्णन किया जाता है, उसे 'आधिकारिक वस्तु कहते हैं, जैसे–रामलीला में राम का चरित्र। इस अधिकारी के उपकार के लिये या रसपुष्टि के लिये प्रसंगवश जिसका

वर्णन आ जाता है, उसे प्रांसगिक वस्तु कहते हैं, जैसे–सुग्रीव, आदि का चरित्र। 'सामने लाने' अर्थात् दृश्य संमुख उपस्थित करने को अभिनय कहते हैं। अत: अवस्थानुरुप अनुकरण या स्वाँग का नाम ही अभिनय है। अभिनय चार प्रकार का होता है–आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। अंगों की चेष्टा से जो अभिनय किया जाता है, उसे आंगिक, वचनों से जो किया जाता है, उसे वाचिक, भेस बनाकर जो किया जाता हैं उसे आहार्य तथा भावों के उद्रेक से कंप, स्वेद आदि द्वारा जो होता है, उसे सात्विक कहते हैं। नाटक में बीज, बिंदु, पताका, प्रकरी और कार्य इन पाँचों के द्वारा प्रयोजन सिद्धि होती है। जो बात मुँह से कहते ही चारों ओर फैल जाय और फलसिद्धि का प्रथम कारण हो उसे बीज कहते हैं, जैसे–वेणीसंहार नाटक में भीम के क्रोध पर युधिष्ठिर का उत्साहवाक्य द्रौपदी के केशमोजन का कारण होने के कारण बीज है। कोई एक बात पूरी होने पर दूसरे वाक्य से उसका संबंध न रहने पर भी उसमें ऐसे वाक्य लाना, जिनकी दूसरे वाक्य के साथ असंगति न हो 'बिंदु' है। बीच में किसी व्यापक प्रसंग के वर्णन को पताका कहते हैं–जैसे–उत्तरचरित में सुग्रीव का और अभिज्ञान- शांकुतल में विदूषक का चरित्रवर्णन। एक देश व्यापी चरित्रवर्णन को प्रकरी कहते हैं। आरंभ की हुई क्रिया की फलसिद्धि के लिये जो कुछ किया जायं, उसे कार्य कहते हैं, जैसे–रामलीला में रावण वध। किसी एक विषय की चर्चा हो रही हो, इसी बीच में कोई दूसरा विषय उपस्थित होकर पहले विषय से मेल में मालूम हो वहाँ पताका स्थान होता है, जैसे–रामचरित् में राम सीता से कह रहे हैं–'हे प्रिये! तुम्हारी कोई बात मुझे असह्य नहीं, यदि असह्य है तो केवल तुम्हारा विरह, इसी बीच में प्रतिहारी आकर कहता है–देव! दुर्मुख उपस्थित। यहाँ ' उपस्थित' शब्द से 'विरह उपस्थित' ऐसी प्रतीत होता है और एक प्रकार का चमत्कार मालूम होता है। संस्कृत साहित्य में नाटक संबंधी ऐसे ही अनेक कौशलों की उद्भावना की गई है और अनेक प्रकार के विभेद दिखाए गए हैं।

आजकल देशभाषाओं में जो नए नाटक लिखे जाते हैं, उनमें संस्कृत नाटकों के सब नियमों का पालन या विषयों का समावेश अनावश्यक समझा जाता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र लिखते हैं–'संस्कृत नाटक की भाँति हिंदी नाटक में उनका अनुसंधान करना या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर

आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।

नाटक के प्रमुख तत्व

कथावस्तु

कथावस्तु को 'नाटक' ही कहा जाता है, अंग्रेजी में इसे 'प्लॉट' की संज्ञा दी जाती है, जिसका अर्थ आधार या भूमि है। कथा तो सभी प्रबंध का प्रबंधात्मक रचनाओं की रीढ़ होती है और नाटक भी, क्योंकि प्रबंधात्मक रचना है, इसलिए कथानक इसका अनिवार्य है। भारतीय आचार्यों ने नाटक में तीन प्रकार की कथाओं का निर्धारण किया है–1 प्रख्यात 2 उत्पाद्य 3 मिस्र प्रख्यात कथा।

प्रख्यात कथा

प्रख्यात कथा इतिहास, पुराण से प्राप्त होती है। जब उत्पाद्य कथा कल्पना पराश्रित होती है, मिश्र कथा कहलाती है। इतिहास और कथा दोनों का योग रहता है। इन कथा आधारों के बाद नाटक कथा को मुख्य तथा गौण अथवा प्रासंगिक भेदों में बांटा जाता है, इनमें से प्रासंगिक के भी आगे पताका और प्रकरी है। पताका प्रासंगिक कथावस्तु मुख्य कथा के साथ अंत तक चलती है, जब प्रकरी बीच में ही समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त नाटक की कथा के विकास हेतु कार्य व्यापार की पांच अवस्थाएं प्रारंभ प्रयत्न, परपर्याशा नियताप्ति और कलागम होती है। इसके अतिरिक्त नाटक में पांच संधियों का प्रयोग भी किया जाता है। वास्तव में नाटक को अपनी कथावस्तु की योजना में पात्रों और घटनाओं में इस रुप में संगति बैठानी होती है कि पात्र कार्य व्यापार को अच्छे ढंग से अभिव्यक्त कर सके। नाटककार को ऐसे प्रसंग कथा में नहीं रखनी चाहिए, जो मंच के संयोग न हो, यदि कुछ प्रसंग बहुत आवश्यक है तो नाटककार को उसकी सूचना कथा में दे देनी चाहिए। रूनाटक की कथावस्तु पौराणिक, ऐतिहासिक, काल्पनिक या सामाजिक हो सकती है।

पात्र

नाटक में नाटक का अपने विचारों, भावों आदि का प्रतिपादन पात्रों के माध्यम से ही करना होता है। अत: नाटक में पात्रों का विशेष स्थान होता है।

प्रमुख पात्र अथवा नायक कला का अधिकारी होता है तथा समाज को उचित दशा तक ले जाने वाला होता है। भारतीय परंपरा के अनुसार वह विनयी, सुंदर, शालीनवान, त्यागी, उच्च कुलीन होना चाहिए। किंतु आज नाटकों में किसान, मजदूर आदि कोई भी पात्र हो सकता है। पात्रों के संदर्भ में नाटककार को केवल उन्हीं पात्रों की सृष्टि करनी चाहिए, जो घटनाओं को गतिशील बनाने में तथा नाटक के चरित्र पर प्रकाश डालने में सहायक होते हैं।

पात्रों का सजीव और प्रभावशाली चरित्र ही नाटक की जान होता है। कथावस्तु के अनुरूप नायक धीरोदात्त, धीर ललित, धीर शांत या धीरोद्धत हो सकता है।

उद्देश्य

सामाजिक के हृदय में रक्त का संचार करना ही नाटक का उद्देश्य होता है। नाटक के अन्य तत्व इस उद्देश्य के साधन मात्र होते हैं। भारतीय दृष्टिकोण सदा आशावादी रहा है, इसलिए संस्कृत के प्रायः सभी नाटक सुखांत रहे हैं। पश्चिम नाटककारों ने या साहित्यकारों ने साहित्य को जीवन की व्याख्या मानते हुए उसके प्रति यथार्थ दृष्टिकोण अपनाया है, उसके प्रभाव से हमारे यहां भी कई नाटक दुखांतमें लिखे गए हैं, किंतु सत्य है कि उदास पात्रों के दुखांत अंत से मन खिन्न हो जाता है। अतः दुखांत नाटकों का प्रचार कम होना चाहिए।

भाषा शैली

नाटक सर्वसाधारण की वस्तु है, अतः उसकी भाषा शैली सरल, स्पष्ट और सुबोध होनी चाहिए, जिससे नाटक में प्रभाविकता का समावेश हो सके तथा दर्शक को क्लिष्ट भाषा के कारण बौद्धिक श्रम न करना पड़े अन्यथा रस की अनुभूति में बाधा पहुंचेगी। अतः नाटक की भाषा सरल व स्पष्ट रूप में प्रवाहित होनी चाहिए।

देशकाल वातावरण

देशकाल वातावरण के चित्रण में नाटककार को युग अनुरूप के प्रति विशेष सतर्क रहना आवश्यक होता है। पश्चिमी नाटक में देशकाल के अंतर्गत संकलनअत्र समय स्थान और कार्य की कुशलता का वर्णन किया जाता है। वस्तुतः यह तीनों तत्व 'यूनानी रंगमंच' के अनुकूल थे। जहां रात भर चलने वाले

लंबे नाटक होते थे और दृश्य परिवर्तन की योजना नहीं होती थी, परंतु आज रंगमंच के विकास के कारण संकलन का महत्त्व समाप्त हो गया है। भारतीय नाट्यशास्त्र में इसका उल्लेख न होते हुए भी नाटक में स्वाभाविकता, औचित्य तथा सजीवता की प्रतिष्ठा के लिए देशकाल वातावरण का उचित ध्यान रखा जाता है। इसके अंतर्गत पात्रों की वेशभूषा तत्कालिक धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों में युग का विशेष स्थान है। अत: नाटक के तत्वों में देशकाल वातावरण का अपना महत्त्व है।

संवाद

नाटक में नाटकार के पास अपनी और से कहने का अवकाश नहीं रहता। वह संवादों द्वारा ही वस्तु का उद्घाटन तथा पात्रों के चरित्र का विकास करता है। अत: इसके संवाद सरल, सुबोध, स्वभाविक तथा पात्रअनुकूल होने चाहिए। गंभीर दार्शनिक विषयों से इसकी अनुभूति में बाधा होती है। इसलिए इनका प्रयोग नहीं करना चाहिए। नीर सत्ता के निरावरण तथा पात्रों की मनोभावों की मनोकामना के लिए कभी-कभी स्वागत कथन तथा गीतों की योजना भी आवश्यक समझी गई है।

रस

नाटक में नवरसों में से आठ का ही परिपाक होता है। शांत रस नाटक के लिए निषिद्ध माना गया है। वीर या श्रृंगार में से कोई एक नाटक का प्रधान रस होता है।

अभिनय

यह नाटक की प्रमुख विशेषता है। नाटक को नाटक के तत्व प्रदान करने का श्रेय इसी को है। यही नाट्यतत्व का वह गुण है, जो दर्शक को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। इस संबंध में नाटककार को नाटकों के रूप, आकार, दृश्यों की सजावट और उसके उचित संतुलन, परिधान, व्यवस्था, प्रकाश व्यवस्था आदि का पूरा ध्यान रखना चाहिए। दूसरे शब्दों में लेखक की दृष्टि रंगशाला के विधि–विधानों की ओर विशेष रुप से होनी चाहिए, इसी में नाटक की सफलता निहित है।

अभिनय भी नाटक का प्रमुख तत्व है। इसकी श्रेष्ठता पात्रों के वाक्चातुर्य और अभिनय कला पर निर्भर है। मुख्य प्रकार से अभिनय 4 प्रकार का होता है–

1. आंगिक अभिनय (शरीर से किया जाने वाला अभिनय),
2. वाचिक अभिनय (संवाद का अभिनय रेडियो नाटक),
3. आहार्य अभिनय (वेशभूषा, मेकअप, स्टेज विन्यास, प्रकाश व्यवस्था आदि),
4. सात्विक अभिनय (अंतरात्मा से किया गया अभिनय रस आदि, ।

नाटक का इतिहास

संस्कृत नाटकों का उद्‌भव एवं विकास

प्राचीन काल–भारत में अभिनय-कला और रंगमंच का वैदिक काल में ही निर्माण हो चुका था। तत्पश्चात् संस्कृत रंगमंच तो अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था-भरत मुनि का नाट्यशास्त्र इसका प्रमाण है। बहुत प्राचीन समय में भारत में संस्कृत नाटक धार्मिक अवसरों, सांस्कृतिक पर्वों, सामाजिक समारोहों एवं राजकीय बोलचाल की भाषा नहीं रही तो संस्कृत नाटकों की मंचीकरण समाप्त-सा हो गया।

भारतवर्ष में नाटकों का प्रचार बहुत प्राचीन काल से है। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र बहुत पुराना है। रामायण, महाभारत, हरिवंश इत्यादि में नट और नाटक का उल्लेख है। पाणिनि ने 'शिलाली' और 'कृशाश्व' नामक दो नटसूत्रकारों के नाम लिए हैं। शिलाली का नाम शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण और सामवेदीय अनुपद सूत्र में मिलता हैं। विद्वानों ने ज्योतिष की गणना के अनुसार शतपथ ब्राह्मण को 4000 वर्ष से ऊपर का बतलाया है। अत: कुछ पाश्चात्य विद्वानों की यह राय हक ग्रीस या यूनान में ही सबसे पहले नाटक का प्रादुर्भाव हुआ, ठीक नहीं है। हरिवंश में लिखा है कि जब प्रद्युम्न, सांब आदि यादव राजकुमार वज्रनाभ के पुर में गए थे, तब वहाँ उन्होंने रामजन्म और रंभाभिसार नाटक खेले थे। पहले उन्होंने नेपथ्य बाँधा था, जिसके भीतर से स्त्रियों ने मधुर स्वर से गान किया था। शूर नामक यादव रावण बना था, मनोवती नाम की स्त्री रंभा बनी थी, प्रद्युम्न नलकूबर और सांब विदूषक बने थे। विल्सन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि हिंदुओं ने अपने यहाँ नाटक का प्रादुर्भाव अपने आप किया था। प्राचीन हिंदू राजा बड़ी बड़ी रंगशालाएँ बनवाते थे। मध्यप्रदेश में सरगुजा एक पहाड़ी स्थान है, वहाँ एक गुफा के भीतर इस प्रकार की एक रंगशाला के चिह्न पाए गए हैं। यह ठीक है कि यूनानियों के आने के पूर्व के संस्कृत नाटक

आजकल नहीं मिलते हैं, पर इस बात से इनका अभाव, इतने प्रमाणों के रहते, नहीं माना जा सकता। संभव है, कलासंपन्न युनानी जाति से जब हिंदू जाति का मिलन हुआ हो, तब जिस प्रकार कुछ और और बातें एक ने दूसरे की ग्रहण की। इसी प्रकार नाटक के संबंध में कुछ बातें हिंदुओं ने भी अपने यहाँ ली हों। बाह्यपटी का 'जवनिका' (कभी कभी 'यवनिका') नाम देख कुछ लोग यवन संसर्ग सूचित करते हैं। अंकों में जो 'दृश्य' संस्कृत नाटकों में आए हैं, उनसे अनुमान होता है कि इन पटों पर चित्र बने रहते थे। अस्तु अधिक से अधिक इस विषय में यही कहा जा सकता है कि अत्यंत प्राचीन काल में जो अभिनय हुआ करते थे। उनमें चित्रपट काम में नहीं लाए जाते थे। सिकंदर के आने के पीछे उनका प्रचार हुआ। अब भी रामलीला, रासलीला बिना परदों के होती ही हैं।

मध्यकाल

मध्यकाल में प्रादेशिक भाषाओं में लोकतंत्र का उदय हुआ। यह विचित्र संयोग है कि मुस्लिमकाल में जहाँ शासकों की धर्मकट्टरता ने भारत की साहित्यिक रंग-परम्परा को तोड़ डाला, वहाँ लोकभाषाओं में लोकमंच का अच्छा प्रसार हुआ। रासलीला, रामलीला तथा नौटंकी आदि के रूप में लोकधर्मी नाट्यमंच बना रहा। भक्तिकाल में एक ओर तो ब्रज प्रदेश में कृष्ण की रासलीलाओं का ब्रजभाषा में अत्यधिक प्रचलन हुआ और दूसरी और विजयदशमी के अवसर पर समूचे भारत के छोटे-बड़े नगरों में रामलीला बड़ी धूमधाम से मनाई जाने लगी।

साहित्यिक दृष्टि से इस मध्यकाल में कुछ संस्कृत नाटकों के पद्यबद्ध हिन्दी छायानुवाद भी हुए, जैसे–नेवाज कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल', सोमनाथ कृत 'मालती-माधव', हृदयरामचरित 'हनुमन्नाटक' आदिय कुछ मौलिक पद्यबद्ध संवादात्मक रचनाएँ भी हुईं, जैसे–लछिराम कृत 'करुणाभरण', रघुराम नागर कृत 'सभासार' (नाटक), गणेश कवि कृत 'प्रद्युम्नविजय' आदि, पर इनमें नाटकीय पद्धति का पूर्णतया निर्वाह नहीं हुआ। ये केवल संवादात्मक रचनाएँ ही कही जा सकती हैं।

इस प्रकार साहित्यिक दृष्टि तथा साहित्यिक रचनाओं के अभाव के कारण मध्यकाल में साहित्यिक रंगकर्म की ओर कोई प्रवृत्ति नहीं हुई। सच तो यह है कि आधुनिक काल में व्यावसायिक तथा साहित्यिक रंगमंच के उदय से पूर्व हमारे देश में रामलीला, नौटंकी आदि के लोकमंच ने ही चार-पाँच सौ वर्षों तक

हिन्दी रंगमंच को जीवित रखा। यह लोकमंच-परम्परा आज तक विभिन्न रूपों में समूचे देश में वर्तमान है। उत्तर-भारत में रामलीलाओं के अतिरिक्त महाभारत पर आधारित 'वीर अभिमन्यु', 'सत्य हरिशचन्द्र' आदि ड्रामे तथा 'रूप-बसंत', 'हीर-राँझा', 'हकीकतराय', 'बिल्वामंगल' आदि नौटंकियाँ आज तक प्रचलित हैं।

आधुनिक काल

आधुनिक काल में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ रंगमंच को प्रोत्साहन मिला। फलतः समूचे भारत में व्यावसायिक नाटक मंडलियाँ स्थापित हुईं। नाट्यारंगन की प्रवृत्ति सर्वप्रथम बँगला में दिखाई दी। सन् 1835 ई. के आस-पास कलकत्ता में कई अव्यावसायिक रंगशालाओं का निर्माण हुआ। कलकत्ता के कुछ सम्भ्रान्त परिवारों और रईसों ने इनके निर्माण में योग दिया था और दूसरी ओर व्यावयायिक नाटक मंडलियों के असाहित्यिक प्रयास से अलग था।

बँगला के इस नाट्य-सृजन और नाट्यारंगन का अध्ययन इसलिए महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के रंगांदोलन को इसी से दशा, दिशा और प्रेरणा मिली थी। बँगला के इस आरम्भिक साहित्यिक प्रयास में जो नाटक रचे गए, वे मूल संस्कृत या अंग्रेजी नाटकों के छायानुवाद या रूपान्तर थे। स्पष्ट है कि भारतेन्दु का आरम्भिक प्रयास भी संस्कृत नाटकों के छायानुवाद का ही था।

हिन्दी रंगमंचीय साहित्यिक नाटकों में सबसे पहला हिन्दी गीतिनाट्य अमानत कृत 'इंदर सभा' कहा जा सकता है, जो सन् 1853 ई. में लखनऊ के नवाब वाजिद अलीशाह के दरबार में खेला गया था। इसमें उर्दू-शैली का वैसा ही प्रयोग था जैसा पारसी नाटक मंडलियों ने अपने नाटकों में अपनाया। सन् 1862 ई. में काशी में 'जानकी मंगल' नामक विशुद्ध हिन्दी नाटक खेला गया था।

उपर्युक्त साहित्यिक रंगमंच के उपर्युक्त छुटपुट प्रयास से बहुत आगे बढ़कर पारसी मंडलियों-ओरिजिनल विक्टोरिया, एम्प्रेस विक्टोरिया, एल्फिंस्टन थियेट्रिकल कम्पनी, अल्फ्रेड थियेट्रिकल तथा न्यू अलफ्रेड कम्पनी आदि-ने व्यावसायिक रंगमंच बनाया। सर्वप्रथम बंबई और बाद में हैदराबाद, लखनऊ, बनारस, दिल्ली लाहौर आदि कई केन्द्रों और स्थानों से ये कम्पनियाँ देश-भर में घूम-घूमकर हिन्दी नाटकों का प्रदर्शन करने लगी। इन पारसी नाटक मंडलियों के लिए पहले-पहल नसरबानी खान साहब, रौनक बनारसी, विनायक प्रसाद 'तालिब',

'अहसन' आदि लेखकों ने नाटक लिखे। जनता का सस्ता मनोरंजन और धनोपार्जन ही इन कम्पनियों का मुख्य उद्देश्य था।

इसी से उच्चकोटि के साहित्यिक नाटकों से इनका विशेष प्रयोजन नहीं था। धार्मिक-पौराणिक तथा प्रेम-प्रधान नाटकों को ही ये अपने रंगमंच पर दिखाती थीं। सस्ते और अश्लील प्रदर्शन करने में इन्हें जरा भी संकोच नहीं था। इसी से जनता की रुचि भ्रष्ट करने का दोष इन पर लगाया जाता है। भ्रमण के कारण इन कम्पनियों का रंगमंच भी इनके साथ घूमता रहता था।

किसी स्थायी रंगमंच की स्थापना इनके द्वारा भी संभव नहीं थी। रंगमंच का ढाँचा बल्लियों द्वारा निर्मित किया जाता था और स्टेज पर चित्र-विचित्र पर्दे लटका दिए जाते थे। भड़कीली-चटकीली वेशभूषा, पर्दों की नई-नई चित्रकारी तथा चमत्कारपूर्ण दृश्य-विधान की ओर इनका अधिक ध्यान रहता था। पर्दों को दृश्यों के अनुसार उठाया-गिराया जाता था। संगीत-वाद्य का आयोजन स्टेज के अगले भाग में होता था। गंभीर दृश्यों के बीच-बीच में भी भद्दे हास्यपूर्ण दृश्य जानबूझकर रखे जाते थे। बीच-बीच में शायरी, गजलें और तुकबन्दी खूब चलती थी। भाषा उर्दू-हिन्दी का मिश्रित रूप थी। संवाद पद्य-रूप तथा तुकपूर्ण खूब होते थे।

राधेश्याम कथावाचक, नारायणप्रसाद बेताब, आगाहश्र कश्मीरी, हरिकृष्ण जौहर आदि कुछ ऐसे नाटककार भी हुए हैं, जिन्होंने पारसी रंगमंच को कुछ साहित्यिक पुट देकर सुधारने का प्रयत्न किया है और हिन्दी को इस व्यावसायिक रंगमंच पर लाने की चेष्टा की, पर व्यावसायिक वृत्ति के कारण संभवत: इस रंगमंच पर सुधार संभव नहीं था। इसी से इन नाटककारों को भी व्यावसायिक बन जाना पड़ा। इस प्रकार पारसी रंगमंच न विकसित हो सका, न स्थायी ही बन सका।

लोक नाटक

संस्कृत नाटकों का युग ढलने लगा, तब चौदहवीं शताब्दी से उन्नीसवी शताब्दी तक उनका स्थान विभिन्न भारतीय भाषाओं में लोक नाटकों (विसा theatre) ने लिया। आज अलग-अलग प्रदेशों में लोक नाटक भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है।

- **रामलीला** - उत्तरी भारत में।
- **जात्र** - बंगाल, उडीसा, पूर्वी बिहार।

- **'तमाशा'** – महाराष्ट्र।
- **नौटंकी** – उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पंजाब।
- **भवई** – गुजरात।
- **यक्षगान** – कर्णाटक।
- **थेरुबुट्टू** – तमिलनाडु।
- **नाचा** – छत्तीसगढ़।

2

हिन्दी नाटक

हिंदी में नाटकों का प्रारंभ भारतेन्दु हरिश्चंद्र से माना जाता है। उस काल के भारतेन्दु तथा उनके समकालीन नाटककारों ने लोक चेतना के विकास के लिए नाटकों की रचना की, इसलिए उस समय की सामाजिक समस्याओं को नाटकों में अभिव्यक्त होने का अच्छा अवसर मिला।

जैसाकि कहा जा चुका है, हिन्दी में अव्यावसायिक साहित्यिक रंगमंच के निर्माण का श्रीगणेश आगाहसन 'अमानत' लखनवी के 'इंदर सभा' नामक गीति-रूपक से माना जा सकता है, पर सच तो यह है कि 'इंदर सभा' की वास्तव में रंगमंचीय कृति नहीं थी। इसमें शामियाने के नीचे खुला स्टेज रहता था। नौटंकी की तरह तीन ओर दर्शक बैठते थे, एक ओर तख्त पर राजा इंदर का आसन लगा दिया जाता था, साथ में परियों के लिए कुर्सियाँ रखी जाती थीं। साजिंदों के पीछे एक लाल रंग का पर्दा लटका दिया जाता था। इसी के पीछे से पात्रों का प्रवेश कराया जाता था। राजा इंदर, परियाँ आदि पात्र एक बार आकर वहीं उपस्थित रहते थे। वे अपने संवाद बोलकर वापस नहीं जाते थे।

उस समय नाट्यारंगन इतना लोकप्रिय हुआ कि अमानत की 'इंदर सभा' के अनुकरण पर कई सभाएँ रची गई, जैसे–'मदारीलाल की इंदर सभा', 'दर्याई इंदर सभा', 'हवाई इंदर सभा' आदि। पारसी नाटक मंडलियों ने भी इन सभाओं और मजलिसेपरिस्तान को अपनाया। ये रचनाएँ नाटक नहीं थी और न ही इनसे हिन्दी का रंगमंच निर्मित हुआ। इसी से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इनको 'नाटकाभास' कहते थे। उन्होंने इनकी पैरोडी के रूप में 'बंदर सभा' लिखी थी।

हिन्दी रंगमंच और भारतेन्दु हरिश्चंद्र

इस प्रकार भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी रंगमंच और नाट्य-रचना के व्यावसायिक तथा अव्यावसायिक साहित्यिक प्रयास तो हुए, पर हिन्दी का वास्तविक और स्थायी रंगमंच निर्मित और विकसित नहीं हो पाया था। सन् 1850 ई. से सन् 1868 ई. तक हिन्दी रंगमंच का उदय और प्रचार-प्रसार तो हुआ, पर उसका सुरुचिपूर्ण विकास और स्थायी निर्माण नहीं हो सका था। पारसी नाटक मंडलियों के अतिरिक्त कुछ और भी छुटपुट व्यावसायिक मंडलियाँ विभिन्न स्थानों पर निर्मित हुईं, पर साहित्यिक सुरुचि सम्पन्नता का उनमें भी अभाव ही रहा।

व्यावसायिक मंडलियों के प्रयत्न में हिन्दी रंगमंच की जो रूपरेखा बनी थी, प्रचार और प्रसार का जो काम हुआ था तथा इनके कारण जो कुछ अच्छे नाटककार हिन्दी को मिले थे-उस अवसर और परिस्थिति का लाभ नहीं उठाया जा सका था।

भारतेन्दु के नाटक लिखने की शुरुआत बंगला के विद्यासुंदर (1867) नाटक के अनुवाद से होती है। यद्यपि नाटक उनके पहले भी लिखे जाते रहे, किंतु नियमित रूप से खड़ी बोली में अनेक नाटक लिखकर भारतेन्दु ने ही हिंदी नाटक की नींव को सुदृढ़ बनाया। भारतेन्दु के पूर्ववर्ती नाटककारों में रीवा नरेश विश्वनाथ सिंह (1846-1911) के बृजभाषा में लिखे गए नाटक 'आनंद रघुनंदन' और गोपालचंद्र के 'नहुष' (1841) को अनेक विद्वान हिंदी का प्रथम नाटक मानते हैं। यहाँ यह जानना रोचक हो सकता है कि गोपालचंद्र, भारतेन्दु हरिश्चंद्र के पिता थे।

हिन्दी के विशुद्ध साहित्यिक रंगमंच और नाट्य-सृजन की परम्परा की दृष्टि से सन् 1868 ई. का बड़ा महत्त्व है। भारतेन्दु के नाटक-लेखन और मंचीकरण का श्रीगणेश इसी वर्ष हुआ। इसके पूर्व न तो पात्रों के प्रवेश-गमन, दृश्य-योजना आदि से युक्त कोई वास्तविक नाटक हिन्दी में रचा गया था। भारतेन्दु के पिता गोपालचन्दर चित 'नहुष' तथा महाराज विश्वनाथसिंह रचित 'आनंदरघुनंदन' भी पूर्ण नाटक नहीं थे, न पर्दों और दृश्यों आदि की योजना वाला विकसित रंगमंच ही निर्मित हुआ था, नाट्यारंगन के अधिकतर प्रयास भी अभी तक मुंबई आदि अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में ही हुए थे और भाषा का स्वरूप भी हिन्दी-उर्दू का मिश्रित खिचड़ी रूप ही था।

3 अप्रैल सन् 1868 को पं. शीतलाप्रसाद त्रिपाठी रचित 'जानकी मंगल' नाटक का अभिनय 'बनारस थियेटर' में आयोजित किया था। कहते हैं कि जिस लड़के को लक्ष्मण का अभिनय पार्ट करना था, वह अचानक उस दिन बीमार पड़ गया। लक्ष्मण के अभिनय की समस्या उपस्थित हो गई और उस दिन युवक भारतेन्दु स्थिति को न सँभालते तो नाट्यायोजन स्थगित करना पड़ता। भारतेन्दु ने एक-डेढ़ घंटे में ही न केवल लक्ष्मण की अपनी भूमिका याद कर ली, अपितु पूरे 'जानकी मंगल' नाटक को ही मस्तिष्क में जमा लिया। भारतेन्दु ने अपने अभिजात्य की परवाह नहीं की।

उन दिनों उच्च कुल के लोग अभिनय करना अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं समझते थे। इस प्रकार इस नाटक से भारतेन्दु ने रंगमंच पर सक्रिय भाग लेना आरम्भ किया। इसी समय-उन्होंने नाट्य-सृजन भी आरम्भ किया।

भारतेन्दु ने सन् 1868 ई. से सन् 1885 ई. तक अपने स्वल्प और अत्यन्त व्यस्त जीवन से शेष 17 वर्षों में अनेक नाटकों का सृजन किया, अनेक नाटकों में स्वयं अभिनय किया, अनेक रंगशालाएँ निर्मित कराईं और हिन्दी रंगमंच के स्थापन का स्तुत्य प्रयास किया। यही नहीं, भारतेन्दु के अनेक लेखकों और रंगकर्मियों को नाट्य-सृजन और अभिनय के लिए प्रेरित किया। भारतेन्दु के सदुद्योग एवं प्रेरणा से काशी, प्रयाग, कानपुर आदि कई स्थानों पर हिन्दी का अव्यावसायिक साहित्यिक रंगमंच स्थापित हुआ।

भारतेन्दु के ही जीवन काल में ये कुछ रंग-संस्थाएँ स्थापित हो चुकी थीं–

(1) काशी में भारतेन्दु के संरक्षण में नेशनल थियेटर की स्थापना हुई। भारतेन्दु अपना 'अंधेर नगरी' प्रहसन इसी थियेटर के लिए एक ही रात में लिखा था,

(2) प्रयाग में 'आर्य नाट्यसभा' स्थापित हुई, जिसमें लाला श्रीनिवासदास का 'रंगधीर प्रेममोहिनी' प्रथम बार अभिनीत हुआ था,

(3) कानपुर में भारतेन्दु के सहयोगी पं. प्रतापनारायण मिश्र ने हिन्दी रंगमंच का नेतृत्व किया और भारतेन्दु के 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'भारत-दुर्दशा', 'अंधेर नगरी' आदि नाटकों का अभिनय कराया।

इनके अतिरिक्त बलिया, डुमराँव, लखनऊ आदि उत्तर प्रदेश के कई स्थानों और बिहार प्रदेश में भी हिन्दी रंगमंच और नाट्य-सृजन की दृढ़ परम्परा का निर्माण हुआ।

प्रेरणा-स्रोत

भारतेन्दु और उनके सहयोगी लेखकों ने नाट्य-सृजन की प्रेरणा कहाँ-कहाँ से प्राप्त की, यह प्रश्न पर्याप्त महत्त्व का है। इस प्रश्न का महत्त्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है, जब हम देखते हैं कि हिन्दी में नाट्य-रचना का सूत्रपात भारतेन्दु की ही नव-प्रवर्तनकारी प्रतिभा से हुआ। यद्यपि भारतेन्दु से पूर्व नाट्य-शैली में कुछ सृजन-प्रयास हुए थे, पर नाटक के वास्तविक रूप का उद्‌भव सर्वप्रथम भारतेन्दु की ही लेखिनी से हुआ। अस्तु, जब हिन्दी में इस साहित्यि-विधा का अभाव था, तो भारतेन्दु ने नाट्य-सृजन की प्रेरणा कहाँ से ली?

साहित्यिक प्रेरणा

साहित्यिक प्रेरणा की खोज की जाये तो कहा जा सकता है कि भारतेन्दु ने संस्कृत तथा प्राकृत की पूर्ववर्ती भारतीय नाट्य-परम्परा और बँगला की समसामयिक नाट्यधारा के साथ अंग्रेजी प्रभाव-धारा से प्रेरणा ली। यद्यपि हमारे यहाँ भास, कालीदास, भवभूति, शूद्रक आदि पूर्ववर्ती संस्कृत नाटककारों की समृद्ध नाट्य-परम्परा विद्यमान थी, पर यह खेद की बात है कि भारतेन्दु बाबू ने उस समृद्ध संस्कृत नाट्य-परम्परा को अपने सम्मुख रखा। प्राकृत-अपभ्रंश काल में अर्थात् ईसा की 9वीं-10 वीं शताब्दी के बाद संस्कृत नाटक ह्रासोन्मुख हो गया था। प्राकृत और अपभ्रंश में भी नाट्य-सृजन वैसा उत्कृष्ट नहीं हुआ, जैसा पूर्ववर्ती संस्कृत-नाट्य-साहित्य था। अतः भारतेन्दु के सामने संस्कृत-प्राकृत की यह पूर्ववर्ती ह्रासगामी परम्परा रही। संस्कृत के मुरारि, राजशेखर, जयदेव आदि की क्रमशः 'अनर्घराघव', 'बालरामायण', 'प्रसन्नराघव' आदि रचनाएँ ही भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी लेखकों का आदर्श बनीं। इनमें न कथ्य- या विषय-वस्तु का वह गाम्भीर्य था, जो कालिदास आदि की अमर कृतियों में था, न उन जैसी शैली-शिल्प की श्रेष्ठता थी। यही कारण है कि भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी नाटक सर्वथा निष्प्राण रहा और यद्यपि भारतेन्दु ने उसमें सामयिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की झलक पैदा कर नवोन्मेष और किंचित् सप्राणता का प्रयास किया, पर उनके प्रयत्नों के बावजूद भारतेन्दुकालीन हिन्दी नाटक कथ्य और शिल्प दोनों की ही दृष्टि से शैशव काल में ही पड़ा रहा, विशेष उत्कर्ष को प्राप्त नहीं हुआ।

भारतेन्दु के पश्चात

इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सत्यप्रयत्नों से हिन्दी के साहित्यिक रंगकर्म और नाट्य-लेखन की दृढ़ परम्परा चली, पर सन् 1885 ई. में भारतेन्दु के निधन के पश्चात् वह उत्साह कुछ मन्द पड़ गया। 19 वीं शती के अन्तिम दशक में फिर कुछ छुटपुट प्रयास हुए। कई नाटक मंडलियों की स्थापना हुई, जैसे–प्रयाग की 'श्रीरामलीला नाटक मंडली' तथा 'हिन्दी नाट्य समिति', भारतेन्दु जी के भतीजों- श्रीकृष्णचन्द्र और श्री ब्रजचन्द्र-द्वारा काशी में स्थापित 'श्री भारतेन्दु नाटक मंडली' तथा 'काशी नागरी नाटक मंडली।' इन नाटक मंडलियों के प्रयत्न से उस समय 'महाराणा प्रताप', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'महाभारत', 'सुभद्राहरण', 'भीष्मपितामह', 'बिल्व मंगल', 'संसार स्वप्न', 'कलियुग' आदि अनेक नाटकों का अभिनय हुआ।

पर ये प्रयास भी बहुत दिन नहीं चल सके। धनाभाव तथा सरकारी और गैर-सरकारी प्रोत्साहन के अभाव में साहित्यिक रंगमंच की स्थापना के प्रयत्न कालान्तर में सब सो गए। इन छुटपुट प्रयासों के अन्तर्गत तत्कालीन साहित्यिक नाटकों का अभिनय हुआ और हिन्दी में कुछ अच्छे रंगमंचानुकूल साहित्यिक नाटकों की रचना हुई। पारसी नाटक कंपनियों के दुष्प्रभाव का तो यह प्रयास अच्छा जवाब था, किन्तु यह प्रयास था बहुत ही स्वल्प। दूसरे, इस साहित्यिक रंगान्दोलन से भी हिन्दी का रंगमंच विशेष विकसित नहीं हुआ, क्योंकि यह रंगमंच पारसी रंगमंच से विशेष भिन्न और विकसित नहीं था- वही पर्दों की योजना, वैसा ही दृश्य-विधान और संगी आदि का प्रबंध रहता था। वैज्ञानिक साधनों से सम्पन्न घूमने वाले रंगमंच का विकास 19 वीं शती में नहीं हो सका था। ध्वनि-यन्त्र आदि की स्थापना के प्रयास भी हिन्दी रंगमंच के विकास की दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण योग नहीं दे पाए। हाँ, इनका यही लाभ हुआ कि पारसी नाटक कम्पनियों के भ्रष्ट प्रचार को कुछ धक्का लगा तथा कुछ रंगमंचीय हिन्दी नाटक प्रकाश में आए।

बीसवीं शताब्दी

20 वीं शताब्दी के तीसरे दशक में सिनेमा के आगमन ने पारसी रंगमंच को सर्वथा समाप्त कर दिया, पर अव्यावसायिक रंगमंच इधर-उधर नए रूपों में जीवित रहा। अब हिन्दी का रंगमंच केवल स्कूलों और कॉलेजों में ही है। यह रंगमंच बड़े नाटकों की अपेक्षा एकांकियों को अधिक अपनाकर चला। इसके दो

मुख्य कारण हैं- एक तो आज का दर्शक कम-से-कम समय में अपने मनोरंजन की पूर्ति करना चाहता है, दूसरे, आयोजकों के लिए भी बड़े नाटक का प्रदर्शन यहां बहुत कठिनाई उत्पन्न करता है, वहाँ एकांकी का प्रदर्शन सरल है-रंगमंच, दृश्य-विधान आदि एकांकी में सरल होते हैं, पात्र भी बहुत कम रहते हैं। अतः सभी शिक्षालयों, सांस्कृतिक आयोजनों आदि में आजकल एकांकियों का ही प्रदर्शन होता है। डॉ. राम कुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्द दास, जगदीशचन्द्र माथुर आदि हमारे अनेक नाटककारों ने सुन्दर अभिनय-उपयोगी एकांकी नाटकों तथा दीर्घ नाटकों की रचना की है।

प्रसाद जी ने उच्चकोटि के साहित्यिक नाटक रच कर हिन्दी नाटक साहित्य को समृद्ध किया था, पर अनेक नाटक रंगमंच पर कुछ कठिनाई उत्पन्न करते थे, फिर भी कुछ काट-छाँट के साथ प्रसाद जी के प्रायः सभी नाटकों का अभिनय हिन्दी के अव्यावसायिक रंगमंच पर हुआ। जार्ज बर्नार्ड शॉ, इब्सन आदि पाश्चात्य नाटककारों के प्रभाव से उपर्युक्त प्रसादोत्तर आधुनिक नाटककारों ने कुछ बहुत सुन्दर रंगमंचीय नाटकों की सृष्टि की। इन नाटककारों के अनेक पूरे नाटक भी रंगमंचों से प्रदर्शित हुए।

स्वतंत्रता के पश्चात

स्वतंत्रता के पाश्चात् हिन्दी रंगमंच के स्थायी निर्माण की दिशा में अनेक सरकारी-गैर-सरकारी प्रयत्न हुए हैं। सरकार की ओर से भी कई गैर-सरकारी संस्थाओं को रंगमंच की स्थापना के लिए आर्थिक सहायता मिली है। पुरुषों के साथ अब स्त्रियाँ भी अभिनय में भाग लेने लगी हैं। स्कूलों-कॉलेजों में कुछ अच्छे नाटकों का अब अच्छा प्रदर्शन होने लगा है।

अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं से संबद्ध कुछ अच्छे स्थायी रंगमंच बने हैं, जैसे-थिएटर सेंटर के तत्त्वावधान में दिल्ली, बंबई, कलकत्ता, इलाहाबाद, हैदराबाद, बंगलौर, शान्तिनिकेतन आदि स्थानों पर स्थायी रंगमंच स्थापित हैं। केन्द्रीय सरकार भी इस ओर पर्याप्त ध्यान दे रही है, पर इन सर्वभाषायी रंगमंचों पर हिन्दी भिखारिणी-सी ही प्रतीत होती है।

केन्द्रीय सरकार ने संगीत नाटक अकादमी की स्थापना की है, जिसमें अच्छे नाटककारों और कलाकारों को प्रोत्साहन दिया जाता है।

व्यावसायिक रंगमंच के निर्माण के भी पिछले दिनों कुछ प्रयत्न हुए हैं। प्रसिद्ध कलाकार स्वर्गीय पृथ्वीराज कपूर ने कुछ वर्ष हुए पृथ्वी थियेटर की

स्थापना की थी। उन्होंने कई नाटक प्रस्तुत किए हैं, जैसे–'दीवार', 'गद्दार', 'पठान', 'कलाकार', 'आहूति' आदि। धन की हानि उठाकर भी कुछ वर्ष इस कम्पनी ने उत्साहपूर्वक अच्छा कार्य किया, पर इतने प्रयास पर भी बंबई, दिल्ली या किसी जगह हिन्दी का स्थायी व्यावसायिक रंगमंच नहीं बन सका है। इस मार्ग में कठिनाइयाँ हैं।

3

सत्य हरिश्चन्द्र

चन्द्रावली इत्यादि नाटकों में कवि श्री हरिश्चन्द्र लिखित श्रीयुत् बाबू बालेश्वरप्रसाद बी. ए. की आज्ञानुसार काशी पत्रिका नामक पाक्षिक हिन्दी पत्र से संगृहीत होकर बनारस निउ मेडिकल हाल प्रेस में छापा गया, सन् 1876 ई. में।

मेरे मित्र बाबू बालेश्वर प्रसाद बी.ए. ने मुझ से कहा कि आप कोई ऐसा नाटक भी लिखें, जो लड़कों को पढ़ाने के योग्य हो, क्योंकि शृंगार रस के आपने जो नाटक लिखे हैं, वे बड़े लोगों के पढ़ने के हैं, लड़कों को उनसे कोई लाभ नहीं। उन्हीं की इच्छानुसार मैने यह सत्य हरिश्चन्द्र नामक रूपक लिखा है। इस में सूर्य कुल सम्भूत राजा हरिश्चन्द्र की कथा है। राजा हरिश्चन्द्र सूर्य वंश का अट्टाइसवाँ राजा रामचन्द्र के 35 पीढ़ी पहले राजा त्रिशंकु का पुत्र था। इसने शौभपुर नामक एक नगर बसाया था और बड़ा ही दानी था। इसकी कथा शास्त्रों में बहुत प्रसिद्ध है और संस्कृत में राजा महिपाल देव के समय में आर्य्य क्षेमीश्वर कवि ने चंडकौशिक नामक नाटक इन्हीं हरिश्चन्द्र के चरित्र में बनाया है। अनुमान होता है कि इस नाटक को बने चार सौ बरस से ऊपर हुए, क्योंकि विश्वरनाथ कविराज ने अपने साहित्य ग्रंथ में इसका नाम लिखा है। कौशिक विश्वामित्र का नाम है। हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र दोनों शब्द व्याकरण की रीति से स्वयं सिद्ध हैं। विश्वामित्र कान्य कुब्ज का क्षत्रिय राजा था। वह एक बार संयोग से वशिष्ठ

के आश्रम में गया और जब बशिष्ठ ने सेना समेत उसकी दावत अपनी शबला नाम की कामधेनु गऊ के प्रताप से बड़े धूम धाम से की तो विश्वामित्र ने वह कामधेनु लेनी चाही। जब हजारों हाथी, घोड़े और गऊ के बदले भी वशिष्ट ने गऊ न दी तो विश्वामित्र ने गऊ छीन लेनी चाही। वशिष्ठ की आज्ञा से कामधेनु ने विश्वामित्र की सब सेना का नाश कर दिया और विश्वामित्र के सौ पुत्र भी वशिष्ठ ने शाप से जला दिए। विश्वामित्र इस पराजय से उदास होकर तप करने लगे और महादेव जी से वरदान में सब अस्त्र पाकर फिर वशिष्ठ से लड़ने आए। वशिष्ठ ने मंत्र के बल से एक ऐसे ब्रह्म दंड खड़ा कर दिया कि विश्वामित्र के सब अस्त्र निष्फल हुए। हार कर विश्वामित्र ने सोचा कि अब तप कर के ब्राह्मण होना चाहिए और तप कर के अंत में ब्राह्मण और ब्रह्मर्षि हो गए। यह वाल्मीकीय रामायण के अयोध्या कांड के 52 से 60 सर्ग तक सविस्तार वर्णित हैं।

जब हरिश्चन्द्र के पिता त्रिशंकु ने इसी शरीर से स्वर्ग जाने के हेतु वशिष्ठ जी से कहा तो उन्होंने उत्तर दिया कि वह अशक्य काम हम से न होगा। तब त्रिशंकु वशिष्ठ के सौ पुत्रों के पास गया और जब उन से भी कोरा जवाब पाया, तब कहा कि तुम्हारे पिता और तुम लोगों ने हमारी इच्छा पूरी नहीं किया और हम को कोरा जवाब दिया इससे अब हम दूसरा पुरोहित करते हैं। वशिष्ठ के पुत्रों ने इस बात से रुष्ट होकर त्रिशंकु को शाप दिया कि तू चांडाल हो जा। बिचारा त्रिशंकु चांडाल बन कर विश्वामित्र के पास गया और दुःखी होकर अपना सब हाल वर्णन किया। विश्वामित्र ने अपने पुराने बैर का बदला लेने का अच्छा अवसर सोचकर राजा से प्रतिज्ञा किया कि इसी देह से तुम को स्वर्ग भेजेंगे और सब मुनियों को बुलाकर यज्ञ करना चाहा। सब ऋषि तो आए पर वशिष्ठ के सौ पुत्र नहीं आए और कहा कि जहाँ चांडाल यजमान और क्षत्रिय पुरोहित वहाँ कौन जाये। क्रोधी विश्वामित्र ने इस बात से रुष्ट होकर शाप से वशिष्ठ के उन सौ पुत्रों को भस्म कर दिया। यह देखकर और बिचारे ऋषि मारे डर के यज्ञ करने लगे। जब मंत्रों से बुलाने से देवता लोग यज्ञ भाग लेने न आए तो विश्वामित्र ने क्रोध से श्रुवा उठाकर कहा कि त्रिशंकु यज्ञ से कुछ काम नहीं, तुम हमारे तपोबल से स्वर्ग जाओ। त्रिशंकु इतना कहते ही आकाश की ओर उड़ा। जब इन्द्र ने देखा कि त्रिशंकु सशरीर स्वर्ग में आना चाहता है तो पुकारा कि अरे तू यहाँ आने के योग नहीं है नीचे गिर। त्रिशंकु यह सुनते ही उलटा होकर नीचे गिरा और विश्वामित्र से त्रहि-त्रहि पुकारा। विश्वामित्र ने तप बल से उसको वहाँ बीच ही में स्थिर रक्खा। कर्मनाशा नामक नदी त्रिशंकु के ही लार से बनी है। फिर

देवताओं पर क्रोध करके विश्वामित्र ने सृष्टि ही दूसरी करनी चाही। दक्षिण ध्रुव के समीप सप्तर्षि और नक्षत्र इन्होंने नए बनाए और बहुत से जीव-जंतु फल मूल बनाकर जब इन्द्रादिक देवता भी दूसरे बनाने चाहे, तब देवता लोग डर कर इनसे क्षमा मांगने गए। इन्होंने अपनी बनाई सृष्टि स्थिर रखकर और दक्षिणाकाश में त्रिशंकु को ग्रह की भाँति प्रकाशमान स्थिर रखकर क्षमा किया। यह सब भी रामायण ही में है। फिर एक बेर पानी नहीं बरसा इससे बड़ा काल पड़ा। विश्वामित्र एक चांडाल के घर भीख माँगने गए और जब कुत्ते का माँस पाया तो उसी से देवताओं को बलि दिया। देवता लोग इन के भय से काँप गए और इन्द्र ने उसी समय पानी बरसाया। यह प्रसंग महाभारत के शांति पर्ब्ब के 141 अध्याय में है, फिर हरिश्चन्द्र की बिपत्ति सुन पर क्रोध से वशिष्ठ जी ने उनको शाप दिया कि तुम बकुला हो जाओ और विश्वामित्र ने यह सुनकर वशिष्ठ को शाप दिया कि तुम आड़ी हो जाओ। पक्षी बनकर दोनों ने बड़ा घोर युद्ध किया, जिससे त्रैलोक्य कांप गया। अन्त में ब्रह्मा ने दोनों से मेल कराया। यह उपाख्यान मारकंडेय पुरान के नवें अध्याय में है। इनकी उत्पत्ति यों है।

भृगु ने जब अपने पुत्र च्यवन ऋषि को ब्याह किए देखा तो बड़े प्रसन्न हुए और बेटा बहू देखने को उनके घर आए। उन दोनों ने पिता की पूजा किया और हाथ जोड़कर सामने खड़े हो गए। भृगु ने बहू से कहा कि बेटी वर माँग। सत्यवती ने यह वर माँगा कि मुझे तो वेद शास्त्र जानने वाला और मेरी माता को युद्ध विद्या विशारद पुत्र हो। भृगु ने एवमस्तु कह कर ध्यान से प्राणायाम किया और उनके 'वास से दो चरु उत्पन्न हुए। भृगु ने वह बहू को देकर कहा कि यह लाल चरु तो तुम्हारी माता-प्रति ऋतु समय में अश्वत्थ का आलिंगन करके खाय और तुम यह सफेद चरु उसी भांति उदुम्बर का आलिंगन करके खाना। भृगु के वाक्यानुसार सत्यवती ने कनौज के राजा गाधि की स्त्री अपनी माता से सब कहा। उसकी माता ने यह समझकर कि ऋषि ने अपनी पतोहू को अच्छा बालक होने को चरु दिया होगा। जब ऋतु काल आया तब लाल चरु तो कन्या को खिलाया और सफेद आप खाया। भगवान भृगु ने तपोबल से जब यह बात जानी तो आकर बहू से कहा कि तुमने चरु को उलट पुलट किया, इससे तुम्हारा लड़का ब्राह्मण होकर भी क्षत्रिय कर्म होगा और तुम्हारा भाई क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मण हो जायेगा, सत्यवती ने जब ससुर से अपराध की क्षमा चाही, तब उन्होंने कहा कि अच्छा तुम्हारे पुत्र के बदले पौत्र क्षत्रिय कर्म्मा होगा, वही राजा गाधि को विश्वामित्र हुए और च्यवन को जमदग्नि और जमदग्नि को परशुराम हुए। यह उपाख्यान कालिका

पुराण के 84 अध्याय में स्पष्ट है। इन उपाख्यानों के जानने से इस नाटक के पढ़ने वालों को बड़ी सहायता मिलेगी। इसी भारतवर्ष में उत्पन्न और इन्हीं हम लोगों को पूर्ब्ब पुरुष महाराज हरिश्चन्द्र भी थे, यह समझ कर इस नाटक के पढ़ने वाले कुछ भी अपना चरित्र सुधारेंगे तो कवि का परिश्रम सुफल होगा।

समर्पण

नाथ,

यह एक नया कौतुकी देखो। तुम्हारे सत्यपथ पर चलने वाले कितना कष्ट उठाते हैं, यही इसमें दिखाया है। भला हम क्या कहैं? जो हरिश्चन्द्र ने किया वह तो अब कोई भी भारतवासी न करेगा, पर उस वंश ही के नाते इनको भी मानना। हमारी करतूत तो कुछ भी नहीं, पर तुम्हारी तो बहुत कुछ है। बस इतनी ही सही लो, सत्य हरिश्चन्द्र तुम्हें समर्पित हैं, अंगीकार करो। छल मत समझना सत्य का शब्द सार्थ है। कुछ पुस्तक के बहाने समर्पण नहीं है।

तुम्हारा

ज्येष्ठ शुद्ध 5 सं. 1933। हरिश्चन्द्र।

सत्यहरिश्चन्द्र (एक रूपक)
करुण रस अंगी
भयानक और बीर अंग

चार अंकों में

प्रथम अंक इन्द्रसभा।
द्वितीय अंक हरिश्चन्द्र की सभा।
त्रितीय अंक काशी में विक्रय।
चतुर्थ अंक स्मशान।
अर्थ सत्यहरिश्चन्द्र
(मंगलाचरण)
सत्यासक्त दयाल द्विज प्रिय अघ हर सुख कन्द।
जनहित कमला तजन जय शिव नृप कवि हरिचन्द1।। 1।।
(नान्दी के पीछे सूत्रधार आता है)

सू. –अहा! आज की सन्ध्या भी धन्य है कि इतने गुणज्ञ और रसिक लोग एकत्र हैं और सबकी इच्छा है कि हिन्दी भाषा का कोई नवीन नाटक देखें। धन्य है विद्या का प्रकाश कि जहाँ के लोग नाटक किस चिड़िया का नाम है, इतना भी नहीं जानते थे भला वहाँ अब लोगों की इच्छा इधर प्रवृत्त तो हुई, परन्तु हा! शोच की बात है कि जो बड़े-बड़े लोग हैं और जिनके किए कुछ हो सकता है, वे ऐसी अन्धपरम्परा में फँसे हैं और ऐसे बेपरवाह और अभिमानी हैं कि सच्चे गुणियों की कहीं पूछ ही नहीं है। केवल उन्हीं की चाह और उन्हीं की बात है, जिन्हें झूठी खैरखाही दिखाना वा लंबा चौड़ा गाल बजाना आता है। (कुछ सोच कर) क्या हुआ, ढंग पर चला जायेगा तो यों भी बहुत कुछ हो रहेगा। काल बड़ा बली है, धीरे-धीरे सब आप से आप ही कर देगा, पर भला आज इन लोगों को लीला कौन सी दिखाऊं। (सोचकर) अच्छा, उनसे भी तो पूछ लें ऐसे कौतुकों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की बुद्धि विशेष लड़ती है। (नेपथ्य की ओर देख कर) मोहना! अपनी भाभी को जरा इधर तो भेजना।

(नेपथ्य में से-मैं तो आप ही आती थी कहती हुई नटी1 आती है)

न. –मैं तो आप ही आती थी। वह एक मनिहारिन आ गई थी, उसी के बखेड़े में लग गई, नहीं तो अब तक कभी की आ चुकी होती। कहिए, आज जो लीला करनी हो वह पहिले ही से जानी रहे तो मैं और सभी से कह के सावधान कर दूं।

सू. –आज का नाटक तो हमने तुम्हारी ही प्रसन्नता पर छोड़ दिया है।

न. –हम लोगों को तो सत्य हरिश्चन्द्र आज कल अच्छी तरह याद है और उसका खेल भी सब छोटे बड़े को भज रहा है।

सू. –ठीक है, यही हो। भला इससे अच्छा और कौन नाटक होगा। एक तो इन लोगों ने उसे अभी देखा नहीं है, दूसरे आख्यान भी करुणा पूर्ण राजा हरिश्चन्द्र का है, तीसरे उसका कवि भी हम लोगों का एक मात्र जीवन है।

न. –(लंबी सांस लेकर) हा! प्यारे हरिश्चन्द्र का संसार ने कुछ भी गुण रूप न समझा। क्या हुआ। कहेंगे सबे ही नैन नीर भरि भरि पाछे प्यारे हरिचंद की कहानी रहिजायगी।। 2।।

सू. –इसमें क्या संदेह है? काशी के पंडितों ही ने कहा है।।

सब सज्जन के मान को कारन इक हरिचंद।
जिमि सुझाव दिन रैन के कारन नित हरिचंद।। 3।।

और फिर उनके मित्र पंडित शीतलाप्रसाद जी ने इस नाटक के नायक से उनकी समता भी किया है। इससे उनके बनाए नाटकों में भी सत्य हरिश्चन्द्र ही आज खेलने को जी चाहता है।।

न. –कैसी समता, मैं भी सुनूं।

सू. –जो गुन नृप हरिचन्द मैं जगहित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिचन्द मैं लखहु प्रतच्छ सुजान।। 4।।

(नेपथ्य में)

अरे!
यहाँ सत्यभय एक के कांपत सब सुर लोक।
यह दूजो हरिचन्द को करन इन्द्रउर सोक ।। 2।।

सू. –(सुनकर और नेपथ्य की ओर देखकर) यह देखो! हम लोगों को बात करते देर न हुई कि मोहना इन्द्र बन कर आ पहुँचा। तो अब चलो हम लोग भी तैयार हों।

(दोनों जाते हैं)

इतिप्रस्तावना

प्रथम अंक

जवनिका उठती है

(स्थान इन्द्रसभा, बीच में गद्दी तकिया धरा हुआ, घर सजा हुआ)

(इन्द्र। आता है)

इ. –('यहाँ सत्यभय एक के' यह दोहा फिर से पढ़ता हुआ इधर-उधर घूमता है।)

(द्वारपाल आता है)

द्वा. –महाराज! नारद जी आते हैं।

इ. –आने दो, अच्छे अवसर पर आए।

द्वा. –जो आज्ञा। (जाता है)

इ. –(आप ही आप) नारद जी, सारी पृथ्वी पर इधर उधर फिरा करते हैं। इनसे सब बातों का पक्का पता लगेगा। हमने माना कि राजा हरिश्चन्द्र को स्वर्ग लेने की इच्छा न हो, तथापि उस के धर्म की एक बेर परीक्षा तो लेनी चाहिए।

(नारदजी आते हैं)

इ. –(हाथ जोड़कर दंडवत करता है)

आइए आइए धन्य भाग्य, आज किधर भूल पड़े।

ना. –हमैं और भी कोई काम है, केवल यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ–यही हमैं है कि और भी कुछ।

इ. –साधु स्वभाव ही से परोपकारी होते हैं। विशेष कर के आप ऐसे हैं, जो हमारे से दीन गृहस्थों को घर बैठे दर्शन देते हैं, क्योंकि जो लोग गृहस्थ और काम काजी हैं वे स्वभाव ही से गृहस्थी के बन्धनों से ऐसे जकड़ जाते हैं कि साधु संगम तो उनको सपने में भी दुर्लभ हो जाता है, न वे अपने प्रबन्धों से छुट्टी पावेंगे न कहीं जायंगे।

ना. –आप को इतनी शिष्टाचार नहीं सोहती। आप देवराज हैं और आप के संग की तो बड़े-बड़े ऋषि मुनि इच्छा करते हैं, फिर आप को सतसंग कौन दुर्लभ हैं। केवल जैसा राजा लोगों में एक सहज मुंह देखा व्यापार होता है वैसी ही बातैं आप इस समय कर रहे हैं।

इ. –हम को बड़ा शोच है कि आप ने हमारी बातों को शिष्टाचार समझा। क्षमा कीजिए आप से हम बनावट नहीं कर सकते। भला, बिराजिये तो सही, यह बातें तो होती ही रहेंगी।

ना. –बिराजिये (दोनों बैठते हैं)।

इ. –कहिए, इस समय कहाँ से आना हुआ।

ना. –अयोध्या से। अहा। राजा हरिश्चन्द्र धन्य है। मैं तो उसके निष्कपट अकृत्रिम सुझाव से बहुत ही संतुष्ट हुआ। यद्यपि इसी सूर्यकाल में अनेक बड़े-बड़े धार्मिक हुए पर हरिश्चन्द्र तो हरिश्चन्द्र ही है।

इ. –(आप ही आप) यह भी तो उसी का गुण गाते हैं।

ना. –महाराज। सत्य की तो मानो हरिश्चन्द्र मूर्ति है। निस्सन्देह ऐसे मनुष्यों के उत्पन्न होने से भारत भूमि का सिर केवल इनके स्मरण से उस समय भी ऊँचा रहेगा जब वह पराधीन होकर हीनावस्था को प्राप्त होगी।

इ. –(आप ही आप) अहा! हृदय भी ईश्वर ने क्या ही वस्तु बनाई है। यद्यपि इसका स्वभाव सहज ही गुणग्राही हो तथापि दूसरों की उत्कट कीर्त्ति से इसमें ईर्षा होती ही हैं, उसमें भी जो जितने बड़े हैं, उनकी ईर्षा भी उतनी ही बड़ी हैं। हमारे ऐसे बड़े पदाधिकारियों को शत्रु उतना संताप नहीं देते, जितना दूसरों की सम्पत्ति और कीर्त्ति।

ना. –आप क्या सोच रहे हैं?

इ. –कुछ नहीं। यों ही मैं यही सोचता था कि हरिश्चन्द्र की कीर्त्ति आज कल छोटे-बड़े सबके मुंह से सुनाई पड़ती है, इससे निश्चय होता है कि नहीं हरिश्चन्द्र निस्संदेह बड़ा मनुष्य है।

ना. –क्यों नहीं, बड़ाई उसी का नाम है, जिसे छोटे-बड़े सब मानैं और फिर नाम भी तो उसी का रह जायगा, जो ऐसा दृढ़ हो कर धर्म साधन करेगा। (आप ही आप) और उसकी बड़ाई का यह भी तो एक बड़ा प्रमाण है कि आप ऐसे लोग उससे बुरा मानते हैं, क्योंकि जिससे बड़े-बड़े लोग डाह करें, पर उसका कुछ बिगाड़ न सकें वह निस्संदेह बहुत बड़ा मनुष्य है।

इ. –भला उसके गृह चरित्र कैसे हैं?

ना. –दूसरों के लिए उदाहरण बनाने के योग्य। भला पहिले जिसने अपने निज के और अपने घर के चरित्र ही नहीं शुद्ध किए हैं, उसकी और बातों पर क्या विश्वास हो सकता है। शरीर में चरित्र ही मुख्य वस्तु है। बचन से उपदेशक और क्रियादिक से कैसा भी धर्म्मनिष्ठ क्यों न हो, पर यदि उसके चरित्र शुद्ध नहीं हैं तो लोगों में वह टकसाल न समझा जायेगा और उसकी बातं प्रमाण न होंगी! महात्मा और दुरात्मा में इतना ही भेद है कि उनके मन बचन और कर्म एक रहते हैं, इनके भिन्न– 2 निस्संदेह हरिश्चन्द्र महाशय है। उसके आशय बहुत उदार हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

इ. –भला आप उदार वा महाशय किसको कहते हैं?

ना. –जिसका भीतर बाहर एक सा हो और विद्यानुरागिता उपकार प्रियता आदि गुण जिसमें सहज हों। अधिकार में क्षमा, विपत्ति में धैर्य्य, सम्पत्ति में अनभिमान और युद्ध में, जिसको स्थिरता है, वह ईश्वर की सृष्टि का रत्न है और उसी की माता पुत्रवती है। हरिश्चंद्र में ये सब बातें सहज हैं। दान करके उसको प्रसन्नता होती है और कितना भी दे, पर संतोष नहीं होता, यही समझता है कि अभी थोड़ा दिया।

इ. –(आप ही आप) हृदय! पत्थर के होकर तुम यह सब कान खोल के सुनो।

ना. –और इन गुणों पर ईश्वर की निश्चला भक्ति उसमें ऐसी है, जो सब का भूषण है, क्योंकि उसके बिना किसी की शोभा नहीं। फिर इन सब बातों पर विशेषता यह है कि राज्य का प्रबन्ध ऐसा उत्तम और दृढ़ है कि लोगों को संदेह होता है कि इन्हें राज-काज देखने की छुट्टी कब मिलती है। सच है छोटे जी के लोग थोड़े ही कामों में ऐसे घबड़ा जाते हैं, मानो सारे संसार का बोझ इन्हीं पर है, पर जो बड़े लोग हैं उन के सब काम महारम्भ होते हैं, तब भी उनके मुख पर कहीं से व्याकुलता नहीं झलकती, क्योंकि एक तो उनके उदार चित्त में धैर्य्य और अवकाश बहुत है, दूसरे उनके समय व्यर्थ नहीं जाते और ऐसे यथायोग्य बने रहते हैं, जिससे उन पर कभी भीड़ पड़ती ही नहीं।

इ. –भला महाराज वह ऐसे दानी हैं तो उनकी लक्ष्मी कैसे स्थिर है।

ना. –यही तो हम कहते हैं। निस्संदेह वह राजा कुल का कलंक है, जिसने बिना पात्र विचारे दान देते-देते सब लक्ष्मी का क्षय कर दिया, आप कुछ उपार्जन किया ही नहीं, जो था वह नाश हो गया और जहाँ प्रबन्ध है, वहाँ धन ही क्या कमती है। मनुष्य कितना धन देगा और जाचक कितना लेंगे।

इ. –पर यदि कोई अपने वित्त के बाहर माँगे या ऐसी वस्तु मांगे, जिससे दाता की सर्वस्व हानि हो तो वह दे कि नहीं?

ना. –क्यों नहीं। अपना सर्वस्व वह क्षण भर में दे सकता है, पात्र चाहिए। जिसको धन पाकर सत्पात्र में उसके त्याग की शक्ति नहीं है, वह उदार कहाँ हुआ।

इ. –(आप ही आप) भला देखेंगे न।

ना. –राजन्! मानियों के आगे प्राण और धन तो कोई वस्तु ही नहीं है। वे तो अपने सहज सुभाव ही से सत्य और विचार तथा दृढ़ता में ऐसे बंधे हैं कि सत्पात्र मिलने या बात पड़ने पर उनको स्वर्ण का पर्वत भी तिल सा दिखाई देता है और उसमें भी हरिश्चन्द्र-जिसका सत्य पर ऐसा स्नेह है, जैसा भूमि, कोष, रानी और तलवार पर भी नहीं है, जो सत्यानुरागी ही नहीं है, भला उससे न्याव कब होगा और जिसमें न्याव नहीं है, वह राजा ही काहे का है। कैसी भी विपत्ति और उभय संकष्ट पड़ै और कैसी ही हानि वा लाभ हो, पर जो न्याव न छोड़े वही धीर और वही राजा और उस न्याव का मूल सत्य है।

इ. –तो भला वह जिसे जो देने को कहैगा देगा वा जो करने को कहैगा वह करैगा।

ना. –क्या आप उसका परिहास करते हैं? किसी बड़े के विषय में ऐसी शंका ही उसकी निन्दा है। क्या आप ने उसका यह सहज साभिमान वचन कभी नहीं सुना है-

चन्द टरै सूरज टरै टरै जगत व्योहार।
पै दृढ़ श्रीहरिचन्द को टरै न सत्य विचार।।

इ. –(आप ही आप) तो फिर इसी सत्य के पीछे नाश भी होंगे, हमको भी अच्छा उपाय मिला। (प्रगट) हाँ पर आप यह भी जानते हैं कि क्या वह यह सब धर्म स्वर्ग लेने को करता है?

ना. –वाह। भला जो ऐसे उदार हैं उनके आगे स्वर्ग क्या वस्तु है। क्या बड़े लोग धर्म स्वर्ग पाने को करते हैं। जो अपने निर्मल चरित्र से संतुष्ट हैं, उन के

आगे स्वर्ग कौन वस्तु है, फिर भला जिनके शुद्ध हृदय और सहज व्योहार हैं, वे क्या यश वा स्वर्ग की लालच में धर्म करते हैं। वे तो आपके स्वर्ग को सहज में दूसरे को दे सकते हैं। और जिन लोगों को भगवान के चरणारविंद में भक्ति है, वे क्या किसी कामना से धर्म्माचरण करते हैं, यह भी तो एक क्षुद्रता है कि इस लोक में एक देकर परलोक में दो की आशा रखना।

इ. –(आप ही आप) हमने माना कि उस को स्वर्ग लेने की इच्छा न हो तथापि अपने कर्मों से वह स्वर्ग का अधिकारी तो हो जायेगा।

ना. –और जिनको अपने किये शुभ अनुष्ठानों से आप संतोष मिलता है, उन के उस असीम आनंद के आगे आप के स्वर्ग का अमृतपान और अप्सरा तो महा महा तुच्छ हैं। क्या अच्छे लोग कभी किसी शुभ कृत्य का बदला चाहते हैं।

इ. –तथापि एक बेर उनके सत्य की परीक्षा होती तो अच्छा होता।

ना. –राजन्! आपका यह सब सोचना बहुत अयोग्य है। ईश्वर ने आपको बड़ा किया है तो आप को दूसरों की उन्नति और उत्तमता पर संतोष करना चाहिए। ईर्षा करना तो क्षुद्राशयों का काम है। महाशय वही है, जो दूसरों की बड़ाई से अपनी बड़ाई समझै।

इ. –(आप ही आप) इन से काम न होगा। (बात बहलाकर प्रगट) नहीं नहीं मेरी यह इच्छा थी कि मैं भी उनके गुणों को अपनी आँखों से देखता। भला मैं ऐसी परीक्षा थोड़े लेना चाहता हूँ, जिससे उन्हें कुछ कष्ट हो।

ना. –(आप ही आप) अहा! बड़ा पद मिलने से कोई बड़ा नहीं होता। बड़ा वही है, जिसका चित्त बड़ा है। अधिकार तो बड़ा है, पर चित्त में सदा क्षुद्र और नीच बातैं सूझा करती हैं। वह आदर के योग्य नहीं है, परन्तु जो कैसा भी दरिद्र है, पर उसका चित्त उदार और बड़ा है, वही आदरणीय है।

(द्वारपाल आता है)

द्वा. –महाराज! विश्वामित्र जी आए हैं।

इ. –(आप ही आप) हां इनसे वह काम होगा। अच्छे अवसर पर आए। जैसा काम हो वैसे ही स्वभाव के लोग भी चाहिएं। (प्रकट) हां हां लिवा लाओ।

द्वा. –जो आज्ञा। (जाता है)

(विश्वामित्र1 आते हैं)

इ. –(प्रणामादि शिष्टाचार करके) आइए भगवन्, विराजिए।

वि. –(नारदजी को प्रणाम करके और इन्द्र को आशीर्वाद देकर बैठते हैं)

ना. –तो अब हम जाते हैं, क्योंकि पिता के पास हमें किसी आवश्यक काम को जाना है।

वि. –यह क्या? हमारे आते ही आप चले, भला ऐसी रुष्टता किस काम की।

ना. –हरे हरे! आप ऐसी बात सोचते हैं, राम राम भला आप के आने से हम क्यों जायंगे। मैं तो जाने ही को था कि इतने में आप आ गये।

इ. –(हंसकर) आपकी जो इच्छा।

ना. –(आप ही आप) हमारी इच्छा क्या अब तो आप ही की यह इच्छा है कि हम जायं, क्योंकि अब आप तो विश्व के अमित्र जी से राजा हरिश्चन्द्र को दु:ख देने की सलाह कीजिएगा तो हम उसके बाधक क्यों हो, पर इतना निश्चय रहे कि सज्जन को दुर्जन लोग जितना कष्ट देते हैं उतनी ही उनकी सत्य कीर्ति तपाएं सोने की भांति और भी चमकती है, क्योंकि विपत्ति बिना सत्य की परीक्षा नहीं होती। (प्रगट) यद्यपि 'जो इच्छा' आप ने सहज भाव से कहा है, तथापि परस्पर में ऐसे उदासीन बचन नहीं कहते, क्योंकि इन वाक्यों से रूखापन झलकता है। मैं कुछ इसका ध्यान नहीं करता, केवल मित्र भाव से कहता हूं। लो, जाता हूं और यही आशीर्वाद दे कर जाता हूं कि तुम किसी को कष्टदायक मत हो, क्योंकि अधिकार पाकर कष्ट देना यह बड़ों की शोभा नहीं, सुख देना शोभा है।

इ. –(कुछ लज्जित होकर प्रणाम करता है)।

(नारदजी जाते हैं)

वि. –यह क्यों? आज नारद भगवान ऐसी जली-कटी क्यों बोलते थे, क्या तुमने कुछ कहा था।

इ. –नहीं तो। राजा हरिश्चन्द्र का प्रसंग निकला था सो उन्होंने उसकी बड़ी स्तुति की और हमारा उच्च पद का आदरणीय स्वभाव उस परकीर्त्ति को सहन न कर सका। इसी में कुछ बात ही बात ऐसा सन्देह होता है कि वे रुष्ट हो गए।

वि. –तो हरिश्चन्द्र में कौन से ऐसे गुण है? (सहज की भृकुटी चढ़ जाती है)।

इ. –(ऋषि का भ्रूभंग देखकर चित्त में संतोष करके उनका क्रोध बढ़ाता हुआ) महाराज सिपारसी लोग चाहे, जिसको बढ़ा दें, चाहे घटा दें। भला सत्य धर्म पालन क्या हंसी खेल है? यह आप ऐसे महात्माओं ही का काम है, जिन्होंने घर बार छोड़ दिया है। भला राज करके और घर में रह के मनुष्य क्या धर्म का हठ करेगा और फिर कोई परीक्षा लेता तो मालूम पड़ती। इन्हीं बातों से तो नारद जी बिना बात ही अप्रसन्न हुए।

वि. –मैं अभी देखता हूँ न। तो हरिश्चन्द्र को तेजोभ्रष्ट न किया तो मेरा नाम विश्वामित्र नहीं। भला मेरे सामने वह क्या सत्यवादी बनैगा और क्या दानीपने का अभिमान करैगा।

(क्रोधपूर्वक उठ कर चला चाहते हैं कि परदा गिरता है)।

।। इति प्रथम अंक।।

दूसरा अंक

स्थान राजा हरिश्चन्द्र का राजभवन।

रानी शैव्या1 बैठी हैं और एक सहेली बगल में खड़ी है।

रा. –अरी? आज मैंने ऐसे बुरे-बुरे सपने देखे हैं कि जब से सो के उठी हूं कलेजा कांप रहा है। भगवान् कुसल करे।

स. –महाराज के पुन्य प्रताप से सब कुसल ही होगी आप कुछ चिन्ता न करें। भला क्या सपना देखा है मैं भी सुनूँ?

रा. –महाराज को तो मैंने सारे अंग में भस्म लगाए देखा है और अपने को बाल खोले और (आँखों में आँसू भर कर) रोहितास्व को देखा है कि उसे सांप काट गया है।

स. –राम! राम! भगवान् सब कुसल करेगा। भगवान् करे रोहितास्व जुग-जुग जिए और जब तक गंगा जमुना में पानी है आप का सोहाग अचल रहे। भला आप ने इस की शांती का भी कुछ उपाय किया है।

रा. –हाँ गुरुजी से तो सब समाचार कहला भेजा है देखो वह क्या करते हैं।

स. –हे भगवान् हमारे महाराज महारानी कुंअर सब कुसल से रहैं, मैं आंचल पसार के यह वरदान मांगती हूं।

(ब्राह्मण आता है)

ब्रा. –(आशीर्वाद देता है)

स्वस्त्यस्तुतेकुशलमस्तुचिरायुरस्तु
गोवाजिहस्तिधनधान्यसमृद्धिरस्तु
ऐश्वर्य्यमस्तुकुशलोस्तुरिपुक्षयोस्तु
सन्तानवृद्धिसहिताहरिभक्तिरस्तु।।

रा. –(हाथ जोड़ कर प्रणाम करती है)

ब्रा. –महाराज गुरूजी ने यह अभिमंत्रित जल भेजा है। इसे महारानी पहिले तो नेत्रों से लगा लें और फिर थोड़ा स पान भी कर लें और यह रक्षाबंधन भेजा है। इसे कुमार रोहिताश्व की दहनी भुजा पर बांध दें फिर इस जल से मैं मार्जन करूंगा।

रा. –(नेत्र में जल लगाकर और कुछ मुंह फेर कर आचमन करके) मालती, यह रक्षाबन्धन तू सम्हाल के अपने पास रख। जब रोहितास्व मिले उस के दहने हाथ पर बाँध दीजियो।

स. –जो आज्ञा (रक्षाबन्धन अपने पास रखती है)।

ब्रा. –तो अब आप सावधान हो जायं मैं मार्जन कर लूँ।

रा. –(सावधान होकर) जो आज्ञा।

ब्रा. –(दुर्बा से मार्जन करता है)

देवास्त्वामभिषिंचन्तुब्रह्मविष्णुशिवादय:
गन्धर्व्वा:किन्नरा: नागा: रक्षा कुर्व्वन्तुतेसदा
पितरोगुह्यकायक्षा: देव्योभूताचमातर:
सर्व्वेत्वामभिषिंचन्तुरक्षांकुर्वन्तुतेसदा
भद्रमस्तुशिवंचास्तुमहालक्ष्मीप्रसीदतु
पतिपुत्रयुतासाध्विजीत्ववं शरदांशतं।।

(मार्जन का जल पृथ्वी पर फेंककर)

यत्पापंरोगमशुभंतद्दूरेंप्रतिहतमस्तु

(फिर रानी पर मार्जन करके)

यन्मंगलंशुभं सौभाग्यधनधान्यमारोग्यं बहु
पुत्रत्वं तत्सर्व्वमीशप्रसादात्ब्राम्हणवचनात्त्वय्यस्तु

(मार्जन कर के फूल अक्षत रानी के हाथ में देता है)

रा. –(हाथ जोड़कर ब्राह्मण को दक्षिणा देती है)

महाराज गुरु जी से मेरी ओर से बिनती करके दंडवत कह दीजिएगा।

ब्रा. –जो आज्ञा (आशीर्वाद देकर जाता है)

रा. –आज महाराज अब तक सभा में नहीं आए?

स. –अब आते होंगे, पूजा में कुछ देर लगी होगी।

(नेपथ्य में बैतालिक गाते हैं)

(राग भैरव)

प्रगटहु रविकुलरबि निसि बीती प्रजा कमलगन फूले। मन्द परे रिपुगन तारा सम जन भय तम उन भूले।। नसे चोर लम्पट खल लखि जग तुव प्रताप प्रगटायो। मागध बंदी सूत चिरैयन मिलि कलरोर मचायो।। तुव कस सीतल पौन परसि चटकीं गुलाब की कलियां। अति सुख पाइ असीस देत सोइ करि अंगुरिन चट अलियां।। भए धरम मैं थित सब द्विज जन प्रजा काज निज लागे। रिपु जुवती मुख कुमुद मन्द जन चक्रवाक अनुरागे।। अरध सरिस उपहार लिए नृप ठाढ़े तिन कहं तोखौ। न्याव कृपा सों ऊंच नीच सम समुझि परसि कर पोखौ।

(नेपथ्य में से बाजे की धुनि सुन पड़ती है)

रा. –महाराज ठाकुर जी के मंदिर से चले, देखो बाजों का शब्द सुनाई देता है और बंदी लोग भी गाते आते हैं।

स. –आप कहती हैं चले? वह देखिये आ पहुंचे कि चले।

रा. –(घबड़ा कर आदर के हेतु उठती हैं)

(परिकर। सहित महाराज हरिश्चन्द्र आते हैं)

(रानी प्रणाम करती हैं और सब लोग यथा स्थान बैठते हैं)

ह. –(रानी से प्रीतिपूर्वक) प्रिये! आज तुम्हारा मुखचन्द्र मलीन क्यों हो रहा है?

रा. –पिछली रात मैंने कुछ दु:स्वप्न देखे हैं, जिनसे चित्त व्याकुल हो रहा है।

ह. –प्रिये! यद्यपि स्त्रियों का स्वभाव सहज ही भीरु होता है, पर तुम तो वीर कन्या वीरपत्नी और वीरमाता हो तुम्हारा स्वभाव ऐसा क्यों?

रा. –नाथ! मोह से धीरज जाता रहता है।

ह. –सो गुरु जी से कुछ शान्ति करने को नहीं कहलाया।

रा. –महाराज! शान्ति तो गुरु जी ने कर दी है।

ह. –तब क्या चिन्ता है शास्त्र और ईश्वर पर विश्वास रक्खो सब कल्याण होगा। सदा सर्वदा सहज मंगल साधन करते भी जो आपत्ति आ पड़े तो उसे निरी ईश्वर की इच्छा ही समझ के संतोष करना चाहिए।

रा. –महाराज! स्वप्न के शुभाशुभ का विचार कुछ महाराज ने भी ग्रंथों में देखा है?

ह. –(रानी की बात अनसुनी करके) स्वप्न तो कुछ हमने भी देखा है चिन्तापूर्वक स्मरण करके। हां यह देखा है कि एक क्रोधी ब्राह्मण विद्या साधन करने को सब दिव्य महाविद्याओं को खींचता है और जब मैं स्त्री जान कर उनको

बचाने गया हूँ तो वह मुझी से रुष्ट हो गया है और फिर जब बड़े विनय से मैंने उसे मनाया है तो उसने मुझसे मेरा सारा राज्य मांगा है। मैंने उसे प्रसन्न करने को अपना सब राज्य दे दिया है। (इतना कहकर अत्यन्त व्याकुलता नाट्य करता है।)

रा. –नाथ। आप एक साथ ऐसे व्याकुल क्यों हो गए?

ह. –मैं यह सोचता हूँ कि अब मैं उस ब्राह्मण को कहाँ पाऊंगा और बिना उसकी थाती उसे सौंपे भोजन कैसे करूंगा।

रा. –नाथ। क्या स्वप्न के व्योहार को भी आप सत्य मानिएगा?

ह. –प्रिये, हरिश्चन्द्र की अर्द्धांगिनी होकर तुम्हें ऐसा कहना उचित नहीं है। हा! भला तुम ऐसी बात मुंह से निकालती हौ! स्वप्न किसने देखा है? मैंने न? फिर क्या? स्वप्न संसार अपने काल में असत्य है, इसका कौन प्रमाण है और जो अब असत्य कहो तो मरने के पीछे तो यह संसार भी असत्य है, फिर इस संसार में परलोक के हेतु लोग धर्माचरण क्यों करते हैं? दिया सो दिया, क्या स्वप्न में क्या प्रत्यक्ष।

रा. –(हाथ जोड़कर) नाथ क्षमा कीजिए, स्त्री की बुद्धि ही कितनी।

ह. –(चिन्ता करके) पर मैं अब करूं क्या! अच्छा। प्रधान! नगर में डौंडी पिटवा दो कि राज्य सब लोग आज से अज्ञातनामगोत्र ब्राह्मण का समझें उसके अभाव में हरिश्चन्द्र उसके सेवक की भाँति उसकी थाती समझ के राज का कार्य करेगा और दो मुहर राज काज के हेतु बनवा लो एक पर 'अज्ञातनामगोत्र ब्राह्मण सेवक हरिश्चन्द्र' और दूसरे पर 'राजाधिराज अज्ञात नाम गोत्र ब्राह्मण महाराज' खुदा रहे और आज से राज काज के सब पत्रों पर भी यही नाम रहे। देस-देस के राजाओं और बड़े-बड़े कार्याधीशों को भी आज्ञापत्र भेज दो कि महाराज हरिश्चन्द्र ने स्वप्न में अज्ञातनामगोत्र ब्राह्मण को पृथ्वी दी है, इससे आज से उसका राज हरिश्चन्द्र मंत्री की भांति सम्हालेगा।

(द्वारपाल आता है)

द्वा. –महाराजाधिराज! एक बड़ा क्रोधी ब्राह्मण दरवाजे पर खड़ा है और व्यर्थ हम लोगों को गाली देता है।

ह. –(घबड़ा कर) अभी सादरपूर्वक ले आओ।

द्वा. –जो आज्ञा (जाता है)।

ह. –यदि ईश्वरेच्छा से यह वही ब्राह्मण हो तो बड़ी बात हो।

(द्वारपाल के साथ विश्वामित्र। आते हैं)।

ह. –(आदरपूर्वक आगे से लेकर और प्रणाम करके) महाराज! पधारिए, यह आसन है।

वि. –बैठे, बैठ चुके, बोल अभी तैनें मुझे पहिचाना कि नहीं।

ह. –(घबड़ाकर) महाराज! पूर्ब्ब परिचित तो आप ज्ञात होते हैं।

वि. –(क्रोध से) सच है रे क्षत्रियाधम। तू काहे को पहिचानेगा, सच है रे सूर्यकुलकलंक तू क्यों पहिचानेगा, धिक्कार तेरे मिथ्या धर्माभिमान को ऐसे ही लोग पृथ्वी को अपने बोझ से दबाते हैं। अरे दुष्ट तै भूल गया कल पृथ्वी किस को दान दी थी, जानता नहीं कि मैं कौन हूं?

'जातिस्वयंग्रहणदुर्ललितैकविप्रं
दृप्यद्वशिष्ठसुतकाननधूमकेतुम्
सर्गान्तराहरणभीतजगत्कृतान्तं
चण्डालयाजिनमवैषिनकौशिकंमाम्'

ह. –(पैरों पर गिरके बड़े विनय से) महाराज! भला आप को त्रैलोक्य में ऐसा कौन है, जो न जानेगा।

'अन्नक्षयादिषु तथाविहितात्मवृत्ति
राजप्रतिग्रह परांमुखमानसं त्वाम्
आड़ोवकप्रधनकम्पितजीवलोकं
कस्तेजसां च तपसां च निधिर्नवेत्ति।।'

बि. –(क्रोध से) सच है रे पाप पाखंड मिथ्यादान बीर! तू क्यों न मुझे 'राज प्रतिग्रह पर्रामुख' कहेगा क्योंकि तैंने तो कल सारी पृथ्वी मुझे दान न दी है, ठहर-ठहर देख इस झूठ का कैसा फल भोगता है, हा! इसे देख कर क्रोध से जैसे–मेरी दहिनी भुजा शाप देने को उठती है वैसे ही जाति स्मरण के संस्कार से बाईं भुजा फिर से कृपाण ग्रहण किया चाहती है, (अत्यन्त क्रोध से लंबी सांस लेकर और बांह उठा कर) अरे ब्रह्मा! सम्हाल अपनी सृष्टि को नहीं तो परम तेज पुंच दीर्घतपोवर्द्धित मेरे आज इस असह्य क्रोध से सारा संसार नाश हो जायगा, अथवा संसार के नाश ही से क्या? ब्रह्मा का तो गर्ब्ब उसी दिन मैंने चूर्ण किया जिस दिन दूसरी सृष्टि बनाई, आज इस राजकुलांगार का अभिमान चूर्ण करूंगा, जो मिथ्या अहंकार के बल से जगत् में दानी प्रसिद्ध हो रहा है।

ह. –(पैरों पर गिर के) महाराज क्षमा कीजिए, मैंने इस बुद्धि से नहीं कहा था, सारी पृथ्वी आप की मैं आप का भला आप ऐसी क्षुद्र बात मुंह से निकालते हैं। (ईषत् क्रोध से) और आप बारंबार मुझे झूठा न कहिए। सुनिए मेरी यह प्रतिज्ञा है।

'चन्द टरै सूरज टरै टरै जगत ब्योहार।
पै दृढ़ श्रीहरिचन्द को टरै न सत्य बिचार'।।

बि. –(क्रोध और अनादर पूर्ब्बक हंस कर)]]]]! सच है सच है रे मूढ़! क्यों नहीं, आखिर सूर्यबंशी है। तो दे हमारी पृथ्वी।

ह. –लीजिए, इसमें विलम्ब क्या है, मैंने तो आप के आगमन के पूर्ब्ब ही से अपना अधिकार छोड़ दिया है। (पृथ्वी की ओर देखकर)

जेहि पाली इक्ष्वाकु सीं अबलौं रवि कुल राज।
ताहि देत हरिचन्द नृप विश्वामित्र हि आज।।

वसुधे! तुम बहु सुख कियो मम पुरुखन की होय। धरमबद्ध हरिचन्द को छमहु सु परबस जोय।।

वि. –(आप ही आप) अच्छा! अभी अभिमान दिखा ले, तो मेरा नाम विश्वामित्र, जो तुझको सत्यभ्रष्ट कर के छोड़ा और लक्ष्मी से तो भ्रष्ट हो ही चुका है। (प्रगट) स्वस्ति। अब इस महादान की दक्षिणा कहां है?

ह. –महाराज! जो आज्ञा हो वह दक्षिणा अभी आती है।

वि. –भला सहस्र स्वर्ण मुद्रा से कम इतने बडे दान की दक्षिणा क्या होगी।

ह. –जो आज्ञा (मंत्री से) मंत्री हजार स्वर्ण मुद्रा अभी लाओ।

वि. –(क्रोध से) 'मंत्री हजार स्वर्ण मुद्रा अभी लाओ' मंत्री कहां से लावेगा? क्या अब खजाना तेरा है कि तैं मंत्री पर हुकुम चलाता है? झूठा कहीं का, देना ही नहीं था तो मुंह से कहा क्यों? चल मैं नहीं लेता ऐसे मनुष्य की दक्षिणा।

ह. –(हाथ जोड़कर बिनय से) महाराज ठीक है। खजाना अब सब आप का है, मैं भूला क्षमा कीजिए। क्या हुआ खजाना नहीं है तो मेरा शरीर तो है।

वि. –एक महीने में जो मुझे दक्षिणा न मिलेगी तो मैं तुझ पर कठिन ब्रह्मदंड गिराऊंगा, देख केवल एक मास की अवधि है।

ह. –महाराज! मैं ब्रह्मदंड से उतना नहीं डरता जितना सत्यदंड से इससे बेचि देह दारा सुअन होइ दास हूं मन्द।
रखि है निज बच सत्य करि अभिमानी हरिचन्द।।

(आकाश से फूल की वृष्टि और बाजे के साथ जयध्वनि होती है)

(जवनिका गिरती है)

।। इति दूसरा अंक।।

तीसरे अंक में अंकावतार

स्थान वाराणसी का बाहरी प्रान्त तालाब।

(पाप1 आता है)

पाप –(इधर उधर दौड़ता और हांफता हुआ) मरे रे मरे, जले रे जले, कहां जायं, सारी पृथ्वी तो हरिश्चन्द्र के पुन्य से ऐसी पवित्र हो रही है कि कहीं हम ठहर ही नहीं सकते। सुना है कि राजा हरिश्चन्द्र काशी गए हैं, क्योंकि दक्षिणा के वास्ते विश्वामित्र ने कहा कि सारी पृथ्वी तो हमको तुमने दान दे दी है, इससे पृथ्वी में जितना धन है, सब हमारा हो चुका और तुम पृथ्वी में कहीं भी अपने को बेचकर हमसे उरिन नहीं हो सकते। यह बात जब हरिश्चन्द्र ने सुनी तो बहुत ही घबड़ाए और सोच-विचार कर कहा कि बहुत अच्छा महाराज हम काशी में अपना शरीर बेचेंगे, क्योंकि शास्त्रों में लिखा है कि काशी पृथ्वी के बाहर शिव के त्रिशूल पर है। यह सुनकर हम भी दौड़े कि चलो हम भी काशी चलें, क्योंकि जहाँ हरिश्चन्द्र का राज्य न होगा वहाँ हमारे प्राण बचेंगे, सो यहाँ और भी उत्पात हो रहा है। जहाँ देखो वहाँ स्नान, पूजा, जप, पाठ, दान, धर्म, होम इत्यादि में लोग ऐसे लगे रहते हैं कि हमारी मानो जड़ ही खोद डालेंगे। रात दिन शंख घंटा की घनघोर के साथ वेद की धूनि मानो ललकार के हमारे शत्रु धर्म की जय मनाती है और हमारे ताप से कैसा भी मनुष्य क्यों न तपा हो भगवती भागीरथी के जलकण मिले वायु से उस का हृदय एक साथ शीतल हो जाता है। इसके उपरान्त शि शि शि ध्वनि अलग मारे डालती है। हाय कहाँ जायं क्या करें। हमारी तो संसार से मानो जड़ ही कट जाती है, भला और जगह तो कुछ हमारी चलती भी है, पर यहाँ तो मानो हमारा राज ही नहीं, कैसा भी बड़ा पापी क्यों न हो यहाँ आया कि गति हुई।

(नेपथ्य में)

येषांक्वापिगतिर्नास्ति तेषांवाराणसीगतिः

पाप –सच है, अरे! यह कौन महा भयंकर भेस, अंग में भभूत पोते, एड़ी तक जटा लटकाए, लाल लाल आँख निकाले साक्षात् काल की भांति त्रिशूल घुमाता हुआ चला आता है। प्राण! तुम्हें जो अपनी रक्षा करनी हो तो भागो पाताल में, अब इस समय भूमंडल में तुम्हारा ठिकाना लगना कठिन ही है।

(भागता हुआ जाता है)

(भैरव1 आते हैं)

भैर. –सच है। येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः। देखो इतना बड़ा पुन्यशील राजा हरिश्चन्द्र भी अपनी आत्मा और स्त्री पुत्र बेचने को यहीं आया

है। अहा! धन्य है सत्य। आज जब भगवान भूतनाथ राजा हरिश्चन्द्र का वृतांत भवानी से कहने लगे तो उनके तीनों नेत्र अश्रु से पूर्ण हो गए और रोमांच होने से सब शरीर के भस्मकण अलग-अलग हो गए। मुझको आज्ञा भी दी हुई है कि अलक्ष रूप से तुम सर्वदा राजा हरिश्चन्द्र की अंगरक्षा करना। इससे चलूं। मैं भी भेस बदलकर भगवान की आज्ञा पालन में प्रवर्त्त हूँ।

(जाते हैं। जवनिका गिरती है)

तीसरे अंक में यह अंकावतार समाप्त हुआ

तीसरा अंक

(स्थान काशी के घाट किनारे की सड़क)

महाराज हरिश्चन्द्र घूमते हुए दिखाई पड़ते हैं

ह. –देखो काशी भी पहुंच गए। अहा! धन्य है काशी। भगवति बाराणसि तुम्हें अनेक प्रणाम है। अहा! काशी की कैसी अनुपम शोभा है।

'चारहु आश्रम बर्न बसै मनि कंचन धाम अकास बिभासिका। सोभा नहीं कहि जाइ कछू बिधि नै रची मनो पुरीन की नासिका। आपु बसैं गिरि धारनजू तट देवनदी बर बारि बिलासिका। पुन्यप्रकासिका पापबिनासिका हीयहुलासिका सोहत कासिका'।। 1।।

'बसैं बिंदुमाधव बिसेसरादि देव सबै दरसन ही तें लागै जम मुख मसी है। तीरथ अनादि पंचगंगा मनिकर्निकादि सात आवरन मध्य पुन्य रूप धंसी है। गिरिधरदास पास भागीरथी सोभा देत जाकी धार तौरै आसु कर्म रूप रसी है। समी सम जसी असी बरना में बसी पाप खसी हेतु असी ऐसी लसी बारानसी है'।। 2।।

'रचित प्रभासी भासी अवलि मकानन की, जिनमें अकासी फबै रतन नकासी है। फिरैं दास दासी बिप्रगृही औ संन्यासी लसै बर गुनरासी देवपुरी हूं न जासी है। गिरिधरदास बिश्वकीरति बिलासी रमा हासी लौं उजासी जाकी जगत हुलासी है। खासी परकासी पुनवांसी चंदिक्रा सी जाके वासी अबिनासी अघनासी ऐसी कासी है'।। 3।।

देखो। जैसा ईश्वर ने यह सुंदर अंगूठी के नगीने सा नगर बनाया है वैसी ही नदी भी इसके लिये दी है। धन्य गंगे!

'जम की सब त्रस बिनास करी मुख तें निज नाम उचारन में। सब पाप प्रतापहि दूर दर्‌यौ तुम आपन आप निहारन में। अहो गंग अनंग के शत्रु करे बहु नेकु जलै मुख डारन में। गिरिधारनजू कितने बिरचे गिरिधारन धारन धारन में'।। 4।।

कुछ महात्म ही पर नहीं गंगा जी का जल भी ऐसा ही उत्तम और मनोहर है। आहा!

नव उज्जल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूंद मध्यमुक्ता मनि पोहति।।
लोल लहर लहि पवन एक पैं इक इमि आवत।
जिमि नरगन मन बिबिध मनोरथ करत मिटावत।।
सुभग स्वर्ग सोपान सरिस सब के मन भावत।
दरसन मज्जन पान त्रिविध भय दूर मिटावत।।
श्री हरिपदनख चन्द्रकान्त मनि द्रवित सुधारस।
ब्रह्म कमंडल मंडन भव खंडन सुर सरबस।।
शिव सिर मालति माल भगीरथ नृपति पुन्य फल।
ऐरावत गज गिरि पति हिम नग कंठहार कल।।
सगर सुअन सठ सहस्र परम जल मात्र उधारन।
अगिनित धारारूप धारि सागर संचारन।।
कासी कहं प्रिय जानि ललकि भेंट्यौ जब धाई।
सपनेहूं नहिं तजी रहीं अंकन लपटाई।।
कहूं बंधे नव घाट उच्च गिरिवर सम सोहत।
कहुं छतरी कहुं मढ़ी-बढ़ी मन मोहत जोहत।।
धवल धाम चहुं ओर फरहरत धुजा पताका।
घहरत घंटा धुनि धमकत धौंसा करि साका।।
मधुरी नौबत बजब कहूं नारि नर गावत।
बेद पढ़त कहुं द्विज कहुं जोगी ध्यान लगावत।
कहूं सुंदरी नहात नीर कर जुगल उछारत।
जुग अंबुज मिलि मुक्त गुच्छ मनु सुच्छ निकारत।।
धोअत सुंदरि बदन करन अति ही छबि पावत।
'बारिधि नाते ससि कलंक मनु कमल मिटावत'।।
सुंदरि ससि मुख नीर मध्य इमि सुंदर सोहत।
कमल बेलि लहलही नवल कुसमन मन मोहत।।
दीठि जहीं जहं जात रहत तितही ठहराई।
गंगा छबि हरिचन्द्र कछू बरनी नहीं जाई।।

(कुछ सोचकर) पर हां! जो अपना जी दुःखी होता है तो संसार सून जान पड़ता है।

असनं वसनं वासो येषां चौवाविधानत:।
मगधेनसमाकाशी गंगाप्यंगारवाहिनी।। 1

विश्वामित्र को पृथ्वी दान करके जितना चित्त प्रसन्न नहीं हुआ, उतना अब बिना दक्षिणा दिये दु:खी होता है। हा! कैसे कष्ट की बात है राजपाट धनधाम सब छूटा अब दक्षिणा कहाँ से देंगे! क्या करें! हम सत्य धर्म कभी छोड़ेंहीगे नहीं और मुनि ऐसे क्रोधी हैं कि बिना दक्षिणा मिले शाप देने को तैयार होंगे और जो वह शाप न भी देंगे तो क्या? हम ब्राह्मण का ऋण चुकाए बिना शरीर भी तो नहीं त्याग कर सकते। क्या करें? कुबेर को जीतकर धन लावें? पर कोई शस्त्र भी तो नहीं है तो क्या किसी से मांग कर दें? पर क्षत्रिय का तो धर्म नहीं कि किसी के आगे हाथ पसारे, फिर ऋण काढ़ें? पर देंगे कहां से। हा! देखो काशी में आकर लोग संसार के बंधन से छूटते हैं, पर हमको यहाँ भी हाय हाय मची है। हा! पृथ्वी! तू फट क्यों नहीं जाती कि मैं अपना कलंकित मुंह फिर किसी को न दिखाऊं। (आतंक से) पर यह क्या? सूर्यवंश में उत्पन्न होकर हमारे यह कर्म हैं कि ब्राह्मण का ऋण दिए बिना पृथ्वी में समा जाना सोचें। (कुछ सोच कर) हमारी तो इस समय कुछ बुद्धि ही नहीं काम करती। क्या करें? हमें तो संसार सूना देख पड़ता है। (चिंता करके। एक साथ हर्ष से) वाह, अभी तो स्त्री पुत्र और हम तीन-तीन मनुष्य तैयार हैं। क्या हम लोगों के बिकने से सहस्र स्वर्ण मुद्रा भी न मिलेंगी? तब फिर किस बात का इतना शोच? न जाने बुद्धि इतनी देर तक कहाँ सोई थी। हमने तो पहले ही विश्वामित्र से कहा था,

बेचि देह दारा सुअन होय दास हूं मंद।
रखि हैं निज बच सत्य करि अभिमानी हरिश्चन्द।।

(नेपथ्य में) तो क्यों नहीं जल्दी अपने को बेचता? क्या हमें और काम नहीं है कि तेरे पीछे-पीछे दक्षिणा के वास्ते लगे फिरें?

ह. –अरे मुनि तो आ पहुंचे। क्या हुआ आज उनसे एक दो दिन की अवधि और लेंगे।

विश्वामित्र आते हैं

वि. –(आप ही आप) हमारी विद्या सिद्ध हुई भी इसी दुष्ट के कारण फिर बहक गई कुछ इन्द्र के कहने ही पर नहीं हमारा इस पर स्वत: भी क्रोध है, पर क्या करें? इसके सत्य, धैर्य और विनय के आगे हमारा क्रोध कुछ काम नहीं करता। यद्यपि यह राज्यभ्रष्ट हो चुका, पर जब तक इसे सत्यभ्रष्ट न कर लूंगा,

तब तक मेरा संतोष न होगा (आगे देखकर) अरे यही दुरात्मा (कुछ रुककर) वा महात्मा हरिश्चंद्र है। (प्रगट) क्यों रे आज महीने में कै दिन बाकी है। बोल कब दक्षिणा देगा?

ह. –(घबड़ाकर) अहा! महात्मा कौशिक। भगवान् प्रणाम करता हूं। (दंडवत करता है)।

वि. –हुई प्रणाम, बोल तैं ने दक्षिणा देने का क्या उपाय किया? आज महीना पूरा हुआ अब मैं एक क्षण भर भी न मानूंगा। दे अभी नहीं तो-(शाप के वास्ते कमंडल से जल हाथ में लेते हैं।)

ह. –(पैरों पर गिरकर) भगवन् क्षमा कीजिए, क्षमा कीजिए। यदि आज सूर्यास्त के पहिले न दूं तो जो चाहे कीजिएगा। मैं अभी अपने को बेचकर मुद्रा ले आता हूं।

वि. –(आप ही आप) वाह रे महानुभावता! (प्रगट) अच्छा आज सांझ तक और सही। सांझ को न देगा तो मैं शाप ही न दूंगा बरंच त्रैलोक्य में आज ही विदित कर दूंगा कि हरिश्चन्द्र सत्य भ्रष्ट हुआ। (जाते हैं)

ह. –भला किसी तरह मुनी से प्राण बचे। अब चलें अपना शरीर बेच कर दक्षिणा देने का उपाय सोचें। हा! ऋण भी कैसी बुरी वस्तु है, इस लोक में वही मनुष्य कृतार्थ है, जिस ने ऋण चुका देने को कभी क्रोधी और क्रूर लहनदार की लाल आँखें नहीं देखी हैं। (आगे चल कर) अरे क्या बाजार में आ गए, अच्छा, (सिर पर तृण रखकर)1 अरे सुनो भाई सेठ, साहूकार, महाजन, दुकानदार, हम किसी कारण से अपने को हजार मोहर पर बेचते हैं, किसी को लेना हो तो लो। (इसी तरह कहता हुआ इधर उधर फिरता है) देखो कोई दिन वह था कि इसी मनुष्य विक्रय को अनुचित जानकर हम दूसरों को दंड देते थे, पर आज वही कर्म हम आप करते हैं। दैव बली है। (अरे सुनो भाई इत्यादि कहता हुआ इधर उधर फिरता है। ऊपर देखकर) क्या कहा? 'क्यों तुम ऐसा दुष्कर कर्म करते हो?' आर्य यह मत पूछो, यह सब कर्म की गति है। (ऊपर देखकर) क्या कहा? 'तुम क्या क्या कर सकते हो, क्या समझते हो और किस तरह रहोगे?' इस का क्या पूछना है। स्वामी जो कहेगा वही करेंगे, समझते सब कुछ हैं, पर इस अवसर पर कुछ समझना काम नहीं आता और जैसे–स्वामी रक्खेगा वैसे रहेंगे। जब अपने को बेच ही दिया, तब इसका क्या विचार है। (ऊपर देखकर) क्या कहा? 'कुछ दाम कम करो।' आर्य हम लोग तो क्षत्रिय हैं, हम दो बात कहां से जाने, जो कुछ ठीक था, कह दिया।

(नेपथ्य में से)

आर्यपुत्र! ऐसे समय में हम को छोड़े जाते हो। तुम दास होगे तो मैं स्वाधीन रहके क्या करूंगी। स्त्री को अर्द्धांगिनी कहते हैं, इससे पहिले बायां अंग बेच लो, तब दाहिना अंग बेचो।

ह. –(सुनकर बड़े शोक से) हा! रानी की यह दशा इन आँखों से कैसे देखी जायेगी!

(सड़क पर शैव्या और बालक फिरते हुए दिखाई पड़ते हैं)

शै. –कोई महात्मा कृपा करके हम को मोल ले तो बड़ा उपकार हो।

बा. –अम को बी कोई मोल ले लो बला उपकाल ओ।

शै. –(आँखों में आंसू भरकर) पुत्र! चन्द्रकुलभूषण महाराज वीरसेन का नाती और सूर्यकुल की शोभा महाराज हरिश्चन्द्र का पुत्र होकर तू क्यों ऐसे कातर बचन कहता है। मैं अभी जीती हूँ! (रोती है)

बा. –(माँ का अंचल पकड़ के) माँ! तुमको कोई मोल लेगा तो अम को भी मोल लेगा। आं आं मा लोती काए को औ। (कुछ रोना सा मुंह बना के शैव्या का आंचल पकड़ के झूलने लगता है।)

शै. –(आंसू पोंछकर) पुत्र! मेरे भाग्य से पूछ।

ह. –अहह! भाग्य! यह भी तुम्हें देखना था। हा! अयोध्या की प्रजा रोती रह गई, हम उनको कुछ धीरज भी न दे आए। उनकी अब कौन गति होगी। हा! यह नहीं कि राज छूटने पर भी छुटकारा हो अब यह देखना पड़ा। हृदय तुम इस चक्रवर्ती की सेवा योग्य बालक और स्त्री को बिकता देखकर टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं हो जाते? (बारंबार लंबी सांसें लेकर आंसू बहाता है)।

शै. –(कोई महात्मा इत्यादि कहती हुई ऊपर देखकर) क्या कहा? 'क्या क्या करोगी?' पर पुरुष से संभाषण और उच्छिष्ट भोजन छोड़कर और सब सेवा करूंगी। (ऊपर देखकर) क्या कहा? 'पर इतने मोल पर कौन लेगा?' आर्य कोई साधु ब्राह्मण महात्मा कृपा करके ले ही लेंगे।

(उपाध्याय और बटुक आते हैं)

उ. –क्यों रे कौंडिन्य! सच ही दासी बिकती है?

ब. –हाँ गुरुजी क्या मैं झूठ कहूंगा। आप ही देख लीजिएगा।

उ. –तो चल, आगे भीड़ हटाता चल। देख धाराप्रवाही भांति कैसे सब काम काजी लोग अधर से उधर फिर रहे हैं। भीड़ के मारे पैर धरने की जगह नहीं है और मारे कोलाहल के कान नहीं दिया जाता।

ब. –(आगे आगे चलता हुआ) हटो भाई हटो (कुछ आगे बढ़कर) गुरुजी यह जहाँ भीड़ लगी है, वहीं होगी।

उ. –(शैव्या को देखकर) अरे यही दासी बिकती है?

शै. –(अरे कोई हम को मोल ले इत्यादि कहती और रोती है)

बा. –(माता की भांति तोतली बोली से कहता है)

उ. –पुत्री। कहो तुम कौन-कौन सेवा करोगी?

शै. –पर पुरुष से सम्भाषण और उच्छिष्ट भोजन छोड़कर और जो-जो कहिएगा सब सेवा करूंगी।

उ. –वाह! ठीक है। अच्छा लो यह सुबर्ण। हमारी ब्राह्मणी अग्निहोत्र के अग्नि की सेवा से घर से काम काज नहीं कर सकती सो तुम सम्हालना।

शै. –(हाथ फैलाकर) महाराज आप ने बड़ा उपकार किया।

उ. –(शैव्या को भली-भांति देखकर आप ही आप) आहा! यह निस्संदेह किसी बडे कुल की है। इसका मुख सहज लज्जा से ऊँचा नहीं होता और दृष्टि बराबर पैर ही पर है, जो बोलती है, वह धीरे-धीरे बहुत सम्हाल के बोलती है। हा! इसकी यह गति क्यों हुई! (प्रगट) पुत्री तुम्हारे पति है न?

श. –(राजा की ओर देखती)

ह. –(आप ही आप दु:ख से) अब नहीं। पति के होते भी ऐसी स्त्री की यह दशा हो।

उ. –(राजा को देखकर आश्चर्य से) अरे यह विशाल नेत्र, प्रशस्त वक्षस्थल और संसार की रक्षा करने के योग्य लंबी-लंबी भुजा वाला कौन मनुष्य है और मुकुट के योग्य सिर पर तृण क्यों रक्खा है? (प्रगट) महात्मा तुम हम को अपने दु:ख का भागी समझो और कृपा पूर्वक अपना सब वृत्तांत कहो।

ह. –भगवान्! और तो विदित करने का अवसर नहीं है इतना ही कह सकता हूँ कि ब्राह्मण के ऋण के कारण यह दशा हुई।

उ. –तो हम से धन लेकर आप शीघ्र ही ऋणमुक्त हूजिए।

ह. –(दोनों कानों पर हाथ रखकर) राम राम! यह तो ब्राह्मण की बृत्ति है। आप से धन लेकर हमारी कौन गति होगी?

उ. –तो पाँच हजार पर आप दोनों में से जो चाहे सो हमारे संग चले।

शै. –(राजा से हाथा जोड़र) नाथ हमारे आछत आप मत बिकिए, जिस में हम को अपनी आँख से यह न देखना पड़े हमारी इतनी बिनती मानिए। (रोती है)

ह. –(आँसू रोक कर) अच्छा! तुम्ही जाओ। (आप ही आप) हा! यह बज्र हृदय हरिश्चन्द्र ही का है कि अब भी नहीं बिदीर्ण होता।

शै. –(राजा के कपड़े में सोना बांधती हुई) नाथ! अब तो दर्शन भी दुर्लभ होंगे। (रोती हुई उपाध्याय से) आर्य आप क्षण भर क्षमा करें तो मैं आर्यपुत्र का भली-भांति दर्शन कर लूं। फिर यह मुख कहाँ और मैं कहाँ।

उ. –हाँ हाँ मैं जाता हूं। कौडिन्य यहाँ है तुम उसके साथ आना। (जाता है)

शै. –(रोकर) नाथ मेरे अपराधों को क्षमा करना।

ह. –(अत्यन्त घबड़ाकर) अरे अरे विधाता तुझे यही करना था। (आप ही आप) हा! पहिले महारानी बनाकर अब दैव ने इसे दासी बनाया। यह भी देखना बदा था। हमारी इस दुर्गति से आज कुलगुरु भगवान सूर्य का भी मुख मलिन हो रहा है। (रोता हुआ प्रगट रानी से) प्रिये सर्वभाव से उपाध्याय को प्रसन्न रखना और सेवा करना।

शै. –(रोकर) नाथ! जो आज्ञा।

बटु. –उपाध्याय जी गए अब चलो जल्दी करो।

ह. –(आँखों में आँसू भर के) देवी (फिर रुक कर अत्यंत सोच में आप ही आप) हाय! अब मैं देवी क्यों कहता हूं अब तो विधाता ने इसे दासी बनाया। (धैर्य से) देवी! उपाध्याय की आराधना भली-भांति करना और इनके सब शिष्यों से भी सुहृत भाव रखना, ब्राह्मण के स्त्री की प्रीति पूर्वक सेवा करना, बालक का यथासंभव पालन करना और अपने धर्म और प्राण की रक्षा करना। विशेष हम क्या समझावें, जो जो दैव दिखावे उसे धीरज से देखना। (आंसू बहते हैं)

शै. –जो आज्ञा (राजा के पैरों पर गिर के रोती है)।

ह. –(धैर्य पूर्व्वक) प्रिये! देर मत करो बटुक घबड़ा रहे हैं।

श. –(उठ कर रोती और राजा की ओर देखती हुई धीरे-धीरे चलती है)

वा. –(राजा से) पिता माँ कआँ जाती ऐं।

ह. –(धैर्य से आंसू रोककर) जहाँ हमारे भाग्य ने उसे दासी बनाया है।

बा. –(बटुक से) अले मां को मत लेजा। (माँ का आँचल पकड़ के खींचता है)

बटु. –(बालक को ढकेल कर) चल चल देर होती है।

बा. –(ढकेलने से गिर कर रोता हुआ उठकर अत्यंत क्रोध और करुणा से माता-पिता की ओर देखता है)

ह. –ब्राह्मण, देवता! बालकों के अपराध से नहीं रुष्ट होना (बालक को उठाकर धूर पोंछ के मुंह चूमता हुआ) पुत्र मुझ चांडाल का मुख इस समय ऐसे क्रोध से क्यों देखता है? ब्राह्मण का क्रोध तो सभी दशा में सहना चाहिए। जाओ माता के संग मुझ भाग्यहीन के साथ रह कर क्या करोगे। (रानी से) प्रिये धैर्य धरो। अपना कुल और जाति स्मरण करो। अब जाओ, देर होती है।

(रानी और बालक रोते हुए बटुक के साथ जाते हैं)

ह. –धन्य हरिश्चन्द्र! तुम्हारे सिवाय और ऐसा कठोर हृदय किस का होगा। संसार में धन और जन छोड़कर लोग स्त्री की रक्षा करते हैं, पर तुमने उसका भी त्याग किया।

(विश्वामित्र आते हैं)

ह. –(पैर पर गिर के प्रणाम करता है)

बि. –ला दे दक्षिणा। अब सांझ होने में कुछ देर नहीं है।

ह. –(हाथ जोड़कर) महाराज आधी लीजिए आधी अभी देता हूं। (सोना देता है)

बि. –हम आधी दक्षिणा लेके क्या करें! दे चाहे जहाँ से सब दक्षिणा। (नेपथ्य में) धिक् तपो धिक् व्रतमिदं ध्कि ज्ञानं धिक् बहुश्रुतम्। नीतंवान सियब्रह्मन् हरिश्चंद्रमिमां दशां।

बि. –(बड़े क्रोध से) आः हमको धिक्कार देने वाला यह कौन दुष्ट है? (ऊपर देखकर) अरे बिश्वेदेवा (क्रोध से जल हाथ में लेकर) अरे क्षत्रिय के पक्षपातियो! तुम अभी विमान से गिरो और क्षत्रिय के कुल में तुम्हारा जन्म हो और वहाँ भी लड़कपन ही में ब्राह्मण के हाथ से मारे जाओ।। जल छोड़ते हैं,

(नेपथ्य में हाहाकार के साथ बड़ा शब्द होता है)

(सुनकर और ऊपर देखकर आनंद से) हहहह! अच्छा हुआ! यह देखो किरीट कुंडल बिना मेरे क्रोध से बिमान से छूट कर विश्वेदेवा उलटे हो-हो कर नीचे गिरते हैं। और हमको धिक्कार दें।

ह. –(ऊपर देखकर भय से) बाह रे तप का प्रभाव। (आप ही आप) तब तो हरिश्चन्द्र को अब तक शाप नहीं दिया है यही बड़ा अनुग्रह है। (प्रगट) भगवन् यह स्त्री बेचकर आधा धन पाया है सो लें और आधा हम अपने को बेचकर अभी देते हैं। (नेपथ्य में) अरे अब तो नहीं सही जाती।

बि. –हम आधा न लेंगे चाहे जहाँ से अभी सब दे।

ह. –(अरे सुनो भाई सेठ साहूकार इत्यादि पुकारता हुआ घूमता है)

(चांडाल के भेष में धर्म और सत्य आते हैं)

धर्म –(आप ही आप)

हम प्रत्तच्छ हरिरूप जगत हमरे बल चालत।
जल थल नभ थिर मो प्रभाव मरजाद न टालत।।
हमहीं नर के मीत सदा सांचे हितकारी।
इक हमहीं संग जात तजत जब पितु सुत नारी।।
सो हम नित थित इक सत्य मैं जाके बल सब जियो।
सोइ सत्य परिच्छन नृपति को आजु भेस हम यह कियो।।

(आश्चर्य से आप ही आप) सचमुच इस राजर्षि के समान दूसरा आज त्रिभुवन में नहीं है। (आगे बढ़कर प्रत्यक्ष) अरे हरजनवाँ! मोहर का संदूख ले आवा है न?

सत्य. –क चौधरी मोहर ले के का करबो?

धर्म. –तों हमे का काम पूछै से?

(दोनों आगे बढ़ते हुए फिरते हैं)

ह. –(अरे सुनो भाई सेठ साहुकार इत्यादि दो तीन बेर पुकार के इधर उधर घूमकर) हाय! कोई नहीं बोलता और कुलगुरु भगवान् सूर्य भी आज हमसे रुष्ट हो कर शीघ्र ही अस्ताचल जाया चाहते हैं। (घबराहट दिखाता है)।

धर्म –(आप ही आप) हाय हाय! इस समय इस महात्मा को बड़ा ही कष्ट है। तो अब चलें आगे। (आगे बढ़ कर) अरे अरे हम तुम को मोल लेंगे। लेव यह पचास सै मोहर लेव।

ह. –(आनन्द से आगे बढ़कर) वाह कृपानिधान! बड़े अवसर पर आए। लाइये। (उसको पहिचान कर) आप मोल लोगे?

धर्म –हाँ हम मोल लेंगे। (सोना देना चाहता है)।

ह. –आप कौन हैं?

धर्म –हम चौधरी डोम सरदार।
अमल हमारा दोनों पार।।
सब मसान पर हमारा राज।
कफन मांगने का है काज।।
फूलमती देवी1 के दास।
पूजैं सती मसान निवास।।

धनतेरस औ रात दिवाली।
बल चढ़ाय के पूजैं काली।।
सो हम तुमको लेंगे मोल।
देंगे मुहर गांठ के खोल।।

(मत्त की भांति चेष्टा करता है)

ह. –(बड़े दु:ख से) अहह! बड़ा दारुण व्यसन उपस्थित हुआ है। (विश्वामित्र से) भगवान् मैं पैर पड़ता हूँ, मैं जन्म भर आप का दास होकर रहूंगा, मुझे चांडाल होने से बचाइए।।

वि. –छि: मूर्ख! भला हम दास लेके क्या करेंगे।

'स्वयंदासास्तपस्विनः'

ह. –(हाथ जोड़कर) जो आज्ञा कीजियेगा हम सब करेंगे।

वि. –सब करेगा न? (ऊपर हाथ उठाकर) कर्म के साक्षी देवता लोग सुनें, यह कहता है कि जो आप कहेंगे मैं सब करूंगा।

ह. –हाँ हाँ जो आप आज्ञा कीजिएगा सब करूंगा।

बि. –तो इसी गाहक के हाथ अपने को बेचकर अभी हमारी शेष दक्षिणा चुका दे।

ह. –जो आज्ञा। (आप ही आप) अब कौन सोच है। (प्रगट धर्म से) तो हम एक नियम पर बिकेंगे।

धर्म –वह कौन?

ह. –भीख असन कम्मल बसन रखिहैं दूर निवास।
जो प्रभु आज्ञा होइ है करि हैं सब ह्वै दास।।

धर्म –ठीक है लेव सोना (दूर से राजा के आंचल में मोहर देता है)

ह. –(लेकर हर्ष से आप ही आप)

ऋण छूट्यो पूर्‌यो बचन द्विजहु न दीनो शाप।
सत्य पालि चंडालहू होइ आजु मोहि दाप।।

(प्रगट विश्वामित्र से) भगवन्! लीजिए यह मोहर।

बि. –(मुँह चिढ़ाकर) सचमुच देता है?

ह. –हाँ हाँ यह लीजिए। (मोहर देते हैं)

बि. –(लेकर) स्वस्ति। (आप ही आप) बस अब चलो बहुत परीक्षा हो चुकी। (जाना चाहते हैं)

ह. –(हाथ जोड़कर) भगवन् दक्षिणा देने में देर होने का अपराध क्षमा हुआ न?

बि. –हाँ क्षमा हुआ। अब हम जाते हैं।

ह. –भगवन् प्रणाम करता हूँ।

(बिश्वामित्र आशीर्वाद देकर जाते हैं)

ह. –अब चौधरी जी (लज्जा से रुककर) स्वामी की जो आज्ञा हो वह करें।

धर्म –(मत्त की भांति नाचता हुआ)

जाओ अभी दक्खिनी मसान।
लेओ वहाँ कफ्फन का दान।।
जो कर तुमको नहीं चुकावै।
सो किरिया करने नहिं पावै।।
चलो घाट पर करो निवास।
भए आज से मेरे दास।।

ह. –जो आज्ञा। (जवनिका गिरती है)

सत्यहरिश्चन्द्र का तीसरा अंक समाप्त हुआ।

चौथा अंक

स्थान: दक्षिण, स्मशान, नदी, पीपल का बड़ा पेड़,

चिता, मुरदे, कौए, सियार, कुत्ते, हड्डी, इत्यादि।

कम्मल ओढ़े और एक मोटा लट्ठ लिए हुए राजा हरिश्चन्द्र फिरते दिखाई पड़ते हैं।

ह. –(लम्बी सांस लेकर) हाय! अब जन्म भर यही दु:ख भोगना पड़ेगा।

जाति दास चंडाल की, घर घनघोर मसान।
कफन खसोटी को करम, सबही एक समान।।

न जाने विधाता का क्रोध इतने पर भी शांत हुआ कि नहीं। बड़ों ने सच कहा है कि दु:ख से दु:ख जाता है। दक्षिणा का ऋण चुका तो यह कर्म करना पड़ा। हम क्या सोचें। अपनी अनथ प्रजा क्या को, या दीन नातेदारों को या अशरश नौकरों को, या रोती हुई दासियों को, या सूनी अयोध्या को, या दासी बनी महारानी को, या उस अनजान बालक को, या अपने ही इस चंडालपने को। हा! बटुक के धक्के से गिरकर रोहिताश्व ने क्रोधभरी और रानी ने जाती समय करुणाभरी दृष्टि से जो मेरी ओर देखा था वह अब तक नहीं भूलती। (घबड़ा कर) हा देवी! सूर्यकुल की बहू और चंद्रकुल की बेटी होकर तुम बेची गईं और

दासी बनीं। हा! तुम अपने जिन सुकुमार हाथों से फूल की माला भी नहीं गुथ सकती थीं, उनसे बरतन कैसे मांजोगी! (मोह प्राप्त होने चाहता है, पर सम्हल कर) अथवा क्या हुआ? यह तो कोई न कहेगा कि हरिश्चन्द्र ने सत्य छोड़ा।

बेचि देह दारा सुअन होई दासहू मन्द।
राख्यौ निज बच सत्य करि अभिमानी हरिचन्द।।

(आकाश से पुष्पवृष्टि होती है)

अरे! यह असमय में पुष्पवृष्टि कैसी? कोई पुन्यात्मा का मुरदा आया होगा। तो हम सावधान हो जायं। (लट्ठ कंधे पर रखकर फिरता हुआ) खबरदार खबरदार बिना हम से कहे और बिना हमें आधा कफन दिये कोई संस्कार न करे। (यही कहता हुआ निर्भय मुद्रा से इधर उधर देखता फिरता है) (नेपथ्य में कोलाहल सुनकर) हाय हाय! कैसा भयंकर समशान है! दूर से मंडल बांध बांध कर चोंच बाए, डैना फैलाए, कंगालों की तरह मुरदों पर गिद्ध कैसे गिरते हैं और कैसा मांस नोंच-नोंच कर आपुस में लड़ते और चिल्लाते हैं। इधर अत्यंत कर्णकटु अमंगल के नगाड़े की भांति एक के शब्द की लाग से दूसरे सियार कैसे रोते हैं। उधर चिराईन फैलाती हुई चट-चट करती चिता कैसी जल रही हैं, जिन में कहीं से मांस के टुकड़े उड़ते हैं, कहीं लोहू बा चरबी बहती है। आग का रंग मांस के संबंध से नीला-पीला हो रहा है। ज्वाला घूम-घूम कर निकलती है। आग कभी एक साथ धधक उठती है कभी मन्द हो जाती है। धुआँ चारों ओर छा रहा है। (आगे देखकर आदर से) अहा! यह वीभत्स व्यापार भी बड़ाई के योग्य है। शव! तुम धन्य हो कि इन पशुओं के इतने काम आते हो। अएतएव कहा है।

'मरनो भलो विदेश को जहाँ न अपुनो कोय।
माटी खायं जनावरा महा महोच्छव होय।।'

अहा! देखो

सिर पर बैठ्यो काग आंख दोउ खात निकारत।
खींचत जीभहि स्यार अतिहि आनन्द उर धारत।।
गिद्ध जांघ कहं खोदि खोदि कै मांस उचारत।
स्वान आँगुरिन काटि काटि कै खान बिचारत।।
बहु चील नोचि लै जात तुच मोद बढ्यौ सबको हियो
मनु ब्रह्मभोज जिजमान कोउ आजु भिखारिन कहँ दियो।।
सोई मुख सोई उदर सोई कर पद दोय।
भयो आजु कछु और ही परसत जेहि नहिं कोय।।

हाड़ माँस लाला रकत बसा तुचा सब सोय।
छिन्न भिन्न दुरगन्धमय मरे मनुस के होय।।
कादर जेहि लखि कै डरत पंडित पावत लाज।
अहो! व्यर्थ संसार को विषय वासना साज।।
(अहा! शरीर भी कैसी निस्सार वस्तु है।)
हा! मरना भी क्या वस्तु है।
सोई मुख जेहि चन्द बखान्यौ।
सोई अंग जेहि प्रिय करि जान्यौ।।
सोई भुज जे पिय गर डारे।
सोई भुज जिन रन बिक्रम पारे।।
सोई पद जिहि सेवक बन्दत।
सोई छबि जेहि देखि आनन्दत।।
सोई रसना जहं अमृत बानी।
सोई सुनि कै हिय नारि जुड़ानी।।
सोई हृदय जहं भाव अनेका।
सोई सिर जहं निज बच टेका।।
सोई छबिमय अंग सुबाए।
आजु जीव बिनु धरनि सुहाए।।
कहां गई वह सुंदर सोभा।
जीवत जेहि लखि सब मन लोभा।।
प्रानहुं ते बढ़िजा कहं चाहत।
ता कहं आजु सबै मिलि दाहत।।
फूल बोझ हू जिन न सहारे।
तिन पै बोझ काठ बहु डारे।।
सिर पीड़ा जिन की नहिं हेरी।
करत कपाल क्रिया तिनकेरी।।
छिनहूं जे न भए कहुं न्यारे।
ते हू बन्धुन छोड़ि सिधारे।।
जो दृग कोर महीप निहारत।
आजु काक तेहि भोज बिचारत।।
भुज बल जे नहिं भुवन समाए।

ते लखियत मुख कफन छिपाए।।
नरपति प्रजा भेद बिनु देखे।
गनें काल सब एकहि लेखे।।
सुभग कुरूप अमृत बिख साने।
आजु सबै इक भाव बिकाने।।
पुरू दधीच कोऊ अब नाहीं।
रहे नावं हीं ग्रन्थन मांही।।

अहा! देखो वही सिर जिस पर मंत्र से अभिषेक होता था, कभी नवरत्न का मुकुट रक्खा जाता था, जिसमें इतना अभिमान था कि इन्द्र को भी तुच्छ गिनता था और जिसमें बड़े-बड़े राज जीतने के मनोरथ भरे थे, आज पिशाचों का गेंद बना है और लोग उसे पैर से छूने में भी घिन करते हैं। (आगे देखकर) अरे यह स्मशान देवी हैं। अहा कात्यायनी को भी कैसा वीभत्स उपचार प्यारा है। यह देखो डोम लोगों ने सूखे गले सड़े फूलों की माला गंगा में से पकड़ पकड़ कर देवी को पहिना दी है और कफन की ध्वजा लगा दी है। मरे बैल और भैसों के गले के घंटे पीपल की डार में लटक रहे हैं, जिन में लोलक की जगह नली की हड्डी लगी है। घंट के पानी से चारों ओर से देवी का अभिषेक होता है और पेड़ के खंभे में लोहू के थापे लगे हैं। नीचे जो उतारों की बलि दी गई है उसके खाने को कुत्ते और सियार लड़ लड़कर कोलाहल मचा रहे हैं। (हाथ जोड़कर) 'भगवति! चंडि! प्रेते! प्रेत विमाने! लसत्प्रेते। प्रेतास्थि रौद्ररूपे! प्रेताशनि। भैरवि! नमस्ते'। 1

(नेपथ्य में) राजन् हम केवल चंडालों के प्रणाम के योग्य हैं। तुम्हारे प्रणाम से हमें लज्जा आती है। मांगो, क्या वर मांगते हो।

ह. –(सुनकर आश्चर्य से) भगवति! यदि आप प्रसन्न हैं तो हमारे स्वामी का कल्याण कीजिए। (नेपथ्य में) साधु महाराज हरिश्चन्द्र साधु!

ह. –(ऊपर देखकर) अहा! स्थिरता किसी को भी नहीं है, जो सूर्य उदय होते ही पद्मिनी बल्लभ और लौकिक वैदिक दोनों कर्म का प्रवर्त्तक था, जो दो पहर तक अपना प्रचंड प्रताप क्षण-क्षण बढ़ाता गया, जो गगनांगन का दीपक और कालसर्प का शिखामणि था, वह इस समय परकटे गिद्ध की भांति अपना सब तेज गंवाकर देखो समुद्र में गिरा चाहता है।

अथवा

सांझ सोई पट लाल कसे कटि सूरज खप्पर हाथ लह्यो है। पच्छिन के बहु सब्दन के मिस जीअ उचाटन मंत्र कह्यो है। मद्य भरी नर खोपरी सो ससि को नव बिम्बहू धाई गह्यो है। दै बलि जीव पसू यह मत्त ह्वै काल कपालिक नाचि रह्यो है।

सूरज धूम बिना की चिता सोई अंत में लै जल माहिं बहाई। बोलैं घने तरु बैठि बिहंगम रोअत सो मनु लोग लोगाई। धूम अंधार, कपाल निसाकर, हाड़ नछत्र, लहू सी1 ललाई। आनंद हेतु निसाचर के यह काल समान सी सांझ बनाई।

अहा! यह चारों ओर से पक्षी लोग कैसा शब्द करते हुए अपने-अपने घोसलों की ओर चले जाते हैं। वर्षा से नदी का भयंकर प्रवाह, सांझ होने से स्मशान के पीपल पर कौओं का एक संग अमंगल शब्द से कांव-कांव करना और रात के आगम से एक सन्नाटे का समय चित्त में कैसी उदासी और नय उत्पन्न करता है। अंधकार बढ़ता ही जाता है। वर्षा के कारण इन स्मशानवासी मंडूकों का टर्र टर्र करना भी कैसा डरावना मालूम होता है।

रुरुआ चहुंदिसि ररत डरत सुनि कै नर नारी।
फटफटाइ दोउ पंख उलुकहु रटत पुकारी।
अन्धकार बस गिरत काक अरु चील करत रव।
गिद्ध गरुड़ हड़गिल्ल भजत लखिविकट भयद दव।
रोअत सियार गरजत नदी स्वान भू कि डरपावई।
संग दादुर झींगुर रुदन धुनि मिलि खर तुमुल मचावई।

इस समय ये चिता भी कैसी भयंकर मालूम पड़ती हैं। किसी का सिर चिता के नीचे लटक रहा है, कहीं आंच से हाथ पैर जलकर गिर पड़े हैं, कहीं शरीर आधा जला है, कहीं बिल्कुल कच्चा है, किसी को वैसे ही पानी में बहा दिया है, किसी को किनारे छोड़ दिया है, किसी का मुंह जल जाने से दांत निकला हुआ भयंकर हो रहा है और कोई दहकती आग में ऐसा जल गया है कि कहीं पता भी नहीं है। बाहरे शरीर! तेरी क्या-क्या गति होती है!!! सचमुच मरने पर इस शरीर को चटपट जला ही देना योग्य है, क्योंकि ऐसे रूप और गुण जिस शरीर में थे उसको कीड़ों या मछलियों से नुचवाना और सड़ा कर दुर्गंधमय करना बहुत ही बुरा है, न कुछ शेष रहेगा न दुर्गति होगी। हाय! चलो आगे चलें। (खबरदार इत्यादि कहता हुआ इधर उधर घूमता है)1 (कौतुक से देखकर) पिशाचों का क्रीड़ा कुतूहल भी देखने के योग्य है। अहा! यह कैसे काले काले

झाड़ई से सिर के बाल खड़े किये लम्बे-लम्बे हाथ पैर बिकराल दांत लम्बी जीभ निकाले इधर-उधर दौड़ते और परस्पर किलकारी मारते हैं, मानों भयानक रस की सेना मूर्तिमान होकर यहाँ स्वच्छंद विहार कर रही है। हाय हाय! इन का खेल और सहज व्योहार भी कैसा भयंकर है। कोई कटाकट हड्डी चबा रहा है, कोई खोपड़ियों में लोहू भर भर के पीता है, कोई सिर का गेंद बनाकर खेलता है, कोई अंतड़ी निकालकर गले में डाले है और चंदन की भांति चरबी और लोहू शरीर में पोत रहा है, एक दूसरे से माँस छीनकर ले भागता है, एक जलता मांस मारे तृष्णा के मुंह में रख लेता है, पर जब गरम मालूम पड़ता है तो थू-थू करके थूक देता है और दूसरा उसी को फिर झट से खा जाता है। हा! देखो यह चुड़ैल एक स्त्री की नाक नथ समेत नोच लाई है, जिसे

1 सत्य हरिश्चंद्र के परवती संस्करणों में बढ़ाया गया अंश,

(पिशाच और डाकिणी गण परस्पर आमोद करते और गाते बजाते आते हैं।)

पि. और डा. –हैं भूत प्रेत हम, डाइन हैं छमाछम,
हम सेवैं मसान, शिव को भजैं, बोलैं बम बम बम।
पि. –हम कड़ कड़ कड़ कड़ कड़ कड़ हड्डी को तोड़ेंगे।
हम भड़ भड़ धड़ धड़ पड़ पड़ सिर सबका फोड़ेंगे।
डा. –हम घुट घुट घुट घुट घुट घुट लोहू पिलावेंगी।
हम चट चट चट चट चट चट ताली बाजवेंगी।।
सब –हम नाचें मिलकर थेई थेई थेई थेई कूदें धम् धम् धम्
हैं भूत प्रेत हम, डाइन हैं छमा छम।।
पि. –हम काट-काट कर सिर को गेंदा उछालेंगे।
हम खींच-खींच कर चर्बी पंशाखा बालेंगे।।
डा. –हम माँग में लाल-लाल लोहू का सिंदूर लगावेंगी।
हम नस के तागे चमड़े का लहँगा बनावेंगी।।
सब –हम धज से सज के बज के चलेंगे चमकेंगे चम, चम, चम।
पि. –लोहू का मुँह से फर्र-फर्र फुहारा छोड़ेंगे।
माला गले पहिरने को अँतड़ी को जोड़ेगें।।
डा. –हम लाद के औंधे मुरदे चौकी बनावैंगी।
कफन बिछा के लड़कों को उस पर सुलावेंगी।।
सब –हम सुख से गावेंगे ढोल बजावेंगे ढम, ढम, ढम, ढम, ढम।

(वैसे ही कूदते हुए एक ओर चले जाते हैं।)

देखने को चारों ओर से सब भूतने एकत्र हो रहे हैं और सभों को इसका बड़ा कौतुक हो गया है। हंसी में परस्पर लोहू का कुल्ला करते हैं और जलती लकड़ी और मुरदों के अंगों में लड़ते हैं और उनको ले ले कर नाचते हैं। यदि तनिक भी क्रोध में आते हैं तो स्मशान के कुत्तों को पकड़-पकड़ कर खा जाते हैं। अहा! भगवान भूतनाथ ने बड़े कठिन स्थान पर योग साधना की है। (खबरदार इत्यादि कहता हुआ इधर-उधर फिरता है) (ऊपर देखकर) आधी रात हो गई, वर्षा के कारण अंधेरी बहुत ही छा रही है, हाथ से नाक नहीं सूझता। चांडाल कुल की भांत स्मशान पर तम का भी आज राज हो रहा है। (स्मरण करके) हा। इस दु:ख की दशा में भी हमसे प्रिया अलग पड़ी है। कैसी भी हीन अवस्था हो पर अपना प्यारा जो पास रहे तो कुछ कष्ट नहीं मालूम पड़ता। सच है-"टूट टाट घर टपकत खटियौ टूट। पिय कै बांह उसिसवां सुख कै लुट"। बिधना ने इस दु:ख पर भी बियोग दिया हा! यह वर्षा और यह दु:ख! हरिश्चन्द्र का तो ऐसा कठिन कलेजा है कि सब सहेगा, पर जिस ने सपने में भी दु:ख नहीं देखा वह महारानी किस दशा में होगी। हा देवि! धीरज धरो धीरज धरो। तुम ने ऐसे ही भाग्यहीन से स्नेह किया है, जिसके साथ सदा दु:ख ही दु:ख है। (ऊपर देखकर) अरे पानी बरसने लगा! (घोघी भली भांति ओढ़ कर) हमको तो यह वर्षा और स्मशान दोनों एकही से दिखाई पड़ते हैं। देखो।

चपला की चमक चहूंघा सों लगाई चिता चिनगी चिलक पटबीजना चलायो है। हेती बग माल स्याम बादर सु भूमिकारी बीर बधूबूंद भव लपटायो है।। हरीचन्द नीर धार आंसू सी परत, जहाँ दादुर को सोर रोर दुखिन मचायो है। दाहन बियोगी दुखियान को मरे हूं यह देखो पापी पाव मसान बनि आयो है।

(कुछ देर तक चुप रह कर) कौन है? (खबरदार इत्यादि कहता हुआ इधर-उधर फिर कर)

इन्द्रकालहू सरिस जो आयसु लांघै कोय।
यह प्रचंड भुज दंड मम प्रति भट ताको होय।।

अरे कोई नहीं बोलता। (कुछ आगे बढ़कर) कौन है?

(नेपथ्य में) हम हैं।

ह. -अरे हमारी बात का उत्तर कौन देता है? चले जहाँ से आवाज आई है, वहाँ चल कर देखें। (आगे बढ़ कर नेपथ्य की ओर देख कर) अरे यह कौन है?

चिता भस्म सब अंग लगाए।
अस्थि अभूषन बिबिध बनाए।।
हाथ मसान कपाल जगावत।
को यह चल्यो रुद्र सम आवत।।
(कापालिक के वेष में धर्म आता है।)
धर्म. –अरे हम हैं।
वृत्ति अयाचित आत्म रति करि जग के सुख त्याग।
फिरहिं मसान-मसान हम धारि अनन्द बिराग।।
आगे बढ़कर महाराज हरिश्चन्द्र को देखकर आप ही आप,
हम प्रतच्छ हरि रूप जगत हमरे बल चालत।
जल थल नभ थिर मम प्रभाव मरजाद न टालत।।
हम हीं नर के मीत सदा सांचे हितकारी।
हम ही इक संग जात तजत, जब पितु सुत नारी।।
सो हम नित थित इक सत्य में जाके बल सब जग जियो।
सोइ सत्य परिच्छन नृपति को आजु भेष हम यह कियो।।

कुछ सोचकर, राजर्षि हरिश्चन्द्र की दु:ख परंपरा अत्यंत शोचनीय और इनके चरित्र अत्यन्त आश्चर्य के हैं! अथवा महात्माओं का यह स्वभाव ही होता है।

सहत बिबिध दु:ख मरि मिटत भोगत लाखन सोग।
पै निज सतय न छाड़हीं जे जग सांचे लोग।।
बरु सूरज पच्छिम उगैं विन्ध्य तरै जल मांहिं।
सत्य बीर जन पै कबहुं निज बच टारत नाहिं।।

अथवा उनके मन इतने बड़े हैं कि दु:ख को दु:ख, सुख को दु:ख गिनते ही नहीं। चलें उनके पास चलें। (आगे बढ़कर और देखकर) अरे यही महात्मा हरिश्चन्द्र हैं? (प्रगट) महाराज! कल्याण हो।

ह. –(प्रणाम करके) आइये योगिराज।

ध. –महाराज! हम अर्थी हैं।

ह. –(लज्जा और विकलता नाट्य करता है)

ध. –महाराज आप लज्जा मत कीजिए। हम लोग योग बल से सब कुछ जानते हैं। आप इस दशा पर भी हमारा अर्थ पूर्ण करने को बहुत हैं। चन्द्रमा राहु से ग्रसा रहता है, तब भी दान दिलवा कर भिक्षुओं का कल्याण करता है।

ह. –आज्ञा। हमारे योग्य जो कुछ हो आज्ञा कीजिए।

ध. –अंजन गुटिका पादुका धातुभेद बैताल। वज्र रसायन जोगिनी मोहि सिद्ध इहि काल1।

ह. –तो मुझे आज्ञा हो वह करूं।

ध. –आज्ञा यही है कि यह सब मुझे सिद्ध हो गए हैं, पर विघ्न इस में बाधक होते हैं सो आप विघ्नों का निवारण कर दीजिए।

ह. –आप जानते ही हैं कि मैं पराया दास हूँ, इससे जिनमें मेरा धर्म न जाय वह मैं करने को तैयार हूं।

ध. –(आप ही आप) राजन्, जिस दिन तुम्हारा धर्म जाएगा उस दिन पृथ्वी किसके बल से ठहरेगी (प्रत्यक्ष) महाराज इसमें धर्म न जायगा, क्योंकि स्वामी की आज्ञा तो आप उल्लंघन करते ही नहीं। सिद्धि का आकर इसी स्मशान के निकट ही है और मैं अब पुरश्चरण करने जाता हूँ, आप बिघ्नों का निषेध कर दीजिए।

(जाता है)

ह. –(ललकार कर) हटो रे हटो विघ्नो चारों ओर से तुम्हारा प्रचार हम ने रोक दिया।

(नेपथ्य में) महाराजाधिराज जो आज्ञा।

आप से सत्य वीर की आज्ञा कौन लांघ सकता है।

खुल्यौ द्वारा कल्यान को सिद्ध जोग तप आज।

निधि सिधि विद्या सब करहिं अपुने मन को काज।।

ह. –(हर्ष से) बड़े आनन्द की बात है कि विघ्नों ने हमारा कहना मान लिया। (विमान पर बैठी हुई तीनों महाविद्या आती है1)

म. वि.–महाराज हरिश्चन्द्र! बधाई है। हमीं लोगों को सिद्ध करने को विश्वामित्र ने बड़ा परिश्रम किया था तब देवताओं ने माया से आपको स्वप्न में हमारा रोना सुनाकर हमारा प्राण बचाया।

ह. –(आप ही आप) अरे यही सृष्टि की उत्पन्न, पालन और नाश करने वाली महाविद्या हैं, जिन्हें विश्वामित्र भी न सिद्ध कर सके। (प्रगट हाथ जोड़कर) त्रिलोकविजयिनी महाविद्याओं को नमस्कार है।

म. वि.–महाराज हम लोग आप के बस में हैं। हमारा ग्रहण कीजिए।

ह. –देवियो! यदि हम पर प्रसन्न हो तो विश्वामित्र मुनि का वशवर्त्तिनी हो, क्योंकि उन्होंने आप लोगों के वास्ते बड़ा परिश्रम किया है।

म. वि.–(परस्पर आश्चर्य से देखकर) धन्य महाराज धन्य! जो आज्ञा।

(जाती हैं)

धर्म एक बैताल के सिर पर पिटारा रखवाए हुए आता है।

ध. –महाराज का कल्याण हो। आप की कृपा से महानिधान सिद्ध हुआ। आपको बधाई है, अब लीजिए इस रसेन्द्र को।

याही के परभाव सों अमरदेव सम होइ।
जोगी जन बिहरहिं सदा मेरु शिखर भय खोइ।।

ह. –(प्रणाम करके) महाराज दास धर्म के यह विरुद्ध है। इस समय स्वामी से कहे बिना मेरा कुछ भी लेना स्वामी को धोखा देना है।

ध. –(आश्चर्य से आप ही आप) वाह रे महानुभावता! (प्रगट) तो इसके स्वर्ण बना कर आप अपना दास्य छुड़ा लें।

ह. –यह ठीक है, पर मैंने तो बिनती किया न कि जब मैं दूसरे का दास हो चुका तो इस अवस्था में मुझे जो कुछ मिले सब स्वामी का है, क्योंकि मैं तो देह के साथ ही अपना सत्व मात्र बेच चुका, इससे आप मेरे बदले कृपा करके मेरे स्वामी ही को यह रसेन्द्र दीजिए।

ध. –(आश्चर्य से आप ही आप) धन्य हरिश्चन्द्र! धन्य तुम्हारा धैर्य! धन्य तुम्हारा विवेक! और धन्य तुम्हारी महानुभावता! या

चलै मेरु बरु प्रलय जल पवन झकोरन पाय।
पै बीरन कें मन कबहूं चलहिं नाहिं ललचाय।।

तो हमें भी इसमें कौन हठ है। (प्रत्यक्ष) बैताल! जाओ, जो महाराज की आज्ञा है, वह करो।

बै. –जो रावल जी की आज्ञा। (जाता है)

ध. –महाराज ब्राह्म मुहूर्त निकट आया अब हम को भी आज्ञा हो।

ह. –जोगिराज! हम को भूल न जाइएगा, कभी कभी स्मरण कीजिएगा।

ध. –महाराज! बड़े बडे देवता आप का स्मरण करते हैं और करेंगे मैं क्या हूँ।

(जाता है)

ह. –क्या रात बीत गई! आज तो कोई भी मुरदा नया नहीं आया। रात के साथ ही स्मशान भी शांत हो चला। भगवान् नित्य ही ऐसा करें।

(नेपथ्य मे घंटानूपुरादि का शब्द सुनकर) अरे यह बड़ा कोलाहल कैसा हुआ?

(विमान पर अष्ट महासिद्धि नव निधि और बारहो प्रयोग आदि देवता1 आते हैं)।

ह. –(आश्चर्य से) अरे यह कौन देवता बड़े प्रसन्न होकर स्मशान पर एकत्र हो रहे हैं।

दे. –महाराज हरिश्चन्द्र की जय हो। आप के अनुग्रह से हम लोग विघ्नों से छूटकर स्वतंत्र हो गए। अब हम आपके वश में हैं, जो आज्ञा हो करें। हम लोग अष्ट महा सिद्धि नव निधि और बारह प्रयोग सब आप के हाथ में है।

ह. –(प्रणाम करके) यदि हम पर आप लोग प्रसन्न हो तो महासिद्धि योगियों के, निधि सज्जन के और प्रयोग साधकों के पास जाओ।

दे. –(आश्चर्य से) धन्य राजर्षि हरिश्चन्द्र! तुम्हारे बिना और ऐसा कौन होगा, जो घर आई लक्ष्मी का त्याग करे। हमीं लोगों की सिद्धि को बड़े-बड़े योगी मुनि पच मरते हैं, पर तुमने तृण की भांति हमारा त्याग करके जगत का कल्याण किया।

ह. –आप लोग मेरे सिर आँखों पर हैं, पर मैं क्या करूं, क्योंकि मैं पराधीन हूं। एक बात और भी निवेदन है। वह यह कि छः अच्छे प्रयोग की तो हमारे समय में सद्यः सिद्धि हो, पर बुरे प्रयोगों की सिद्धि विलंब से हो।

दे. –महाराज! जो आज्ञा। हम लोग जाते हैं। आज आप के सत्य ने शिव जी के कीलन1 को भी शिथिल कर दिया। महाराज का कल्याण हो।

(जाते हैं)

(नेपथ्य में इस भांति मानो राजा हरिश्चन्द्र नहीं सुनता)

(एक स्वर से) तो अब अप्सरा को भेजें?

(दूसरे स्वर से) छिः मूर्ख! जिस को अष्ट सिद्धि नव निधियों ने नहीं डिगाया उसको अप्सरा क्या डिगावेंगी?

(एक स्वर से) तो अब अन्तिम उपाय किया जाय।

(दूसरे स्वर से) हाँ तक्षक को आज्ञा दे। अब और कोई उपाय नहीं है।

ह. –अहा अरुण का उदय हुआ चाहता है। पूर्व दिशा ने अपना मुंह लाल किया। (साँस ले कर) "वा चकई को भयो चित चीतो चियोति चहूँ दिसि चाय सों नाची। ह्वै गई छीन कलाधर की कला जामिनी जोति मनो जम जांची। बोलत बैरी बिहंगम देव संजोगिन की भई संपत्ति काची। लोहू पियो जो बियोगिन को सो कियो मुख लाल पिशाचिन प्राची।" हा! प्रिये इन बरसातों की रात को तुम रो रो के बिताती होगी! हा! वत्स रोहिताश्व, भला हम लोगों ने तो अपना शरीर बेचा तब दास हुए तुम बिना बिके ही क्यों दास बन गए!

जेहि सहसन परिचायिका राखत हाथहि हाथ। सो तुम लोटत धूर मैं दास बालकन साथ! जाकी आयसु जग नृपति सुनतहि धारत सीस! तेहि द्विज बटु अज्ञा करत अहह कठिन अति इस। बिनु तन बेचे बिनु जग ज्ञान विवेक। दैव सर्प दंशित भए भोगत कष्ट अनेक।

(घबड़ा कर) नारायण! नारायण! मेरे मुख से क्या निकल गया। देवता उस की रक्षा करें। (बांई आँख का फड़कना दिखाकर) इसी समय में यह महा अपशकुन क्यों हुआ? (दाहिनी भुजा का फड़कना दिखाकर) अरे और साथ ही यह मंगल शकुन भी! न जाने क्या होनहार है, वा अब क्या होनहार है, जो होना था सो हो चुका। अब इससे बढ़कर और कौन दशा होगी? अब केवल मरण मात्र बाकी है। इच्छा तो यही है कि सत्य छूटने और दीन होने के पहिले ही शरीर छूटे, क्योंकि इस दुष्ट चित्त का क्या ठिकाना है, पर बश क्या है।

(नेपथ्य में)

पुत्र हरिश्चन्द्र सावधान। यही अन्तिम परीक्षा है। तुम्हारे पुरखा इक्ष्वाकु से लेकर त्रिशंकु पर्यन्त आकाश में नेत्र भरे खड़े एक टक तुम्हारा मुख देख रहे हैं। आज तक इस वंश में ऐसा कठिन दुःख किसी को नहीं हुआ था। ऐसा न हो कि इन का सिर नीचा हो। अपने धैर्य का स्मरण करो।

ह. –(घबड़ा कर ऊपर देखकर) अरे! यह कौन है? कुलगुरु भगवान सूर्य अपना तेज समेटे मुझे अनुशासन कर रहे हैं। (ऊपर पितः मैं सावधान हूं सब दुःखों को फूल की माला की भांति ग्रहण करूंगा।) (नेपथ्य में रोने की आवाज सुन पड़ती है)

ह. –अरे अब सवेरा होने के समय मुरदा आया! अथवा चांडाल कुल का सदा कल्याण हो, हमें इस से क्या। (खबरदार इत्यादि कहता हुआ फिरता है)

(नेपथ्य में)

हाय! कैसी भई! हाय बेटा हमें रोती छोड़ के कहाँ चले गए! हाय! हाय रे!

ह. –अहह! किसी दीन स्त्री का शब्द है और शोक भी इस पुत्र का है। हाय हाय! हम को भी भाग्य ने क्या ही निर्दय और वीभत्स कर्म सौंपा है! इससे भी वस्त्र मांगना पड़ेगा।

(रोती हुई शैव्या रोहिताश्व का मुरदा लिये आती है)

शै. –(रोती हुई) हाय! बेटा जब बाप ने छोड़ दिया, तब तुम भी छोड़ चले! हाय हमारी बिपत और बुढ़ौती की ओर भी तुम ने न देखा! हाय! हाय रे! अब हमारी कौन गति होगी! (रोती है)

ह. –हाय हाय! इसके पति ने भी इसको छोड़ दिया है। हा! इस तपस्विनी को निष्करुण विधि ने बड़ा ही दु:ख दिया है।

शै. –(रोती हुई) हाय बेटा! अरे आज मुझे किसने लूट लिया! हाय मेरी बोलती चिड़िया कहाँ उड़ गई! हाय अब मैं किसका मुंह देख के जीऊंगी! हाय मेरी अंधी की लकड़ी कौन छीन ले गया! हाय मेरा ऐसा सुंदर खिलौना किसने तोड़ डाला! अरे बेटा तै तो मरे पर भी सुंदर लगता है! हाय रे! अरे बोलता क्यों नहीं! बेटा जल्दी बोल, देख माँ कब की पुकार रही है! बच्चा तू तो एक दफे पुकारने में दौड़कर गले से लपट जाता था, आज क्यों नहीं बोलता!

(शव को बारंबार गले लगाती, देखती और चूमती है)

ह. –हाय! हाय! इस दुखिया के पास तो खड़ा नहीं हुआ जाता।

शै. –पागल की भांति यह क्या हो रहा है। बेटा कहाँ गए हौ आओ जल्दी! अरे अकेले इस मसान में मुझे डर लगती है। यहाँ मुझ को कौन ले आया है रे! बेटा जल्दी आओ। क्या कहते हौ, मैं गुरू को फूल लेने गया था, वहाँ काले सांप ने मुझे काट लिया! हाय हाय रे! अरे कहाँ काट लिया? अरे कोई दौड़ के किसी गुनी को बुलाओ, जो जिलावै बच्चे को। अरे वह साँप कहाँ गया! हम को क्यों नहीं काटता? काट रे काटय क्या उस सुकुंआर बच्चे ही पर बल दिखाना था? हमें काट। हाय हम को नहीं काटता। अरे हिंयां तो कोई सांप वांप नही है, मेरे लाल झूठ बोलना कब से सीखे? हाय हाय मैं इतना पुकारती हूँ और तुम खेलना नहीं छोड़ते? बेटा गुरु जी पुकार रहे हैं, उनके होम की बेला निकली जाती है। देखो बड़ी देर से वह तुम्हारे आसरे बैठै हैं। दो जल्दी इनको दूब और बेलपत्र। हाय हमने इतना पुकारा तुम कुछ नहीं बोलते! ख्जोर से, बेटा सांझ भई, सब विद्यार्थी लोग घर फिर आए, तुम अब तक क्यों नहीं आए? आगे शव देखकर, हाय हाय रे! अरे मेरे लाल को सांप ने सचमुच डंस लिया! हाय लाल! हाय मेरे आँखों के उजियाले को कौन ले गया! हाय! मेरा बोलता हुआ सुग्गा कहाँ उड़ गया! बेटा अभी तो बोल रहे थे, अभी क्या हो गया! हाय मेरा बसा घर आज किसने उजाड़ दिया! हाय मेरी कोख में किस ने आग लगा दी! हाय मेरा कलेजा किसने निकाल लिया! ख्चिल्ला–चिल्ला कर रोती है, हाय लाल कहां गए! अरे अब मैं किसका मुंह देख के जीउं+गी रे! हाय अब मां कहके मुझको कौन पुकारेगा! अरे आज किस बैरी की छाती ठंडी भई रे! अरे तेरे सुकुंआर अंगों पर भी काल को तनिक दया न आई! अरे बेटा आंख खोलो! हाय मैं सब विपत तुम्हारा ही मुंह देखकर सहती थी तो अब कैसे जीती रहूंगी! अरे लाल एक बेर तो बोलो! (रोती है।)

ह. –न जाने क्यों इसके रोने पर मेरा कलेजा फटा जाता है।

शै. –(रोती हुई) हा नाथ! अरे अपने गोद के खेलाए बच्चे की यह दशा क्यों नहीं देखते! हाय! अरे तुम ने तो इसको हमें सौंपा था कि इसे अच्छी तरह पालना सो हमने इसकी यह दशा कर दी! हाय! अरे ऐसे समय में भी आकर नहीं सहाय होते! भला एक बेर लड़के का मुंह तो देख जाओ! अरे मैं किस के भरोसे अब जीऊंगी?

ह. –हाय हाय! इसकी बातों से तो प्राण मुंह को चले आते हैं और मालूम होता है कि संसार उलटा जाता है। यहां से हट चलें (कुछ दूर हटकर उसकी ओर देखता खड़ा हो जाता है)।

शै. –(रोती हुई) हाय! यह बिपत का समुद्र कहां से उमड़ पड़ा! अरे छलिया मुझे छलकर कहां भाग गया! देख कर, अरे आयुस की रेखा तो इतनी लम्बी है फिर अभी से यह बज्र कहां से टूट पड़ा! अरे ऐसा सुंदर मुह, बड़ी-बड़ी आंख, लम्बी-लम्बी भुजा, चौड़ी छाती, गुलाब सा रंग! हाय मरने के तुझ में कौन से लच्छन थे, जो भगवान ने तुझे मार डाला! हाय लाल! अरे बड़े-बड़े जोतसी गुनी लोग तो कहते थे कि तुम्हारा बेटा बड़ा प्रतापी चक्रवर्ती राजा होगा, बहुत दिन जीयेगा, सो सब झूठ निकला! हाय! पोथी, पत्र, पूजा, पाठ, दान, जप होम, कुछ भी काम न आया! हाय तुम्हारे बाप का कठिन पुत्र भी तुम्हारा सहाय न भया और तुम चल बसे! हाय!

ह. –अरे इन बातों से तो मुझे बड़ी शंका होती है (शव को भली भांति देखकर) अरे इस लड़के में तो सब लक्षण चक्रवर्ती के से दिखाई पड़ते हैं। हाय! न जाने किस बड़े कुल का दीपक आज इस ने बुझाया है और न जाने किस नगर को आज इसने अनाथ किया है। हाय! रोहिताश्व भी इतना बड़ा भया होगा (बड़े सोच से) हाय हाय! मेरे मुंह से क्या अमंगल निकल गया। नारायण (सोचता है)

शै. –भगवान विश्वामित्र! आज तुम्हारे सब मनोरथ पूरे भए। हाय!

ह. –(घबड़ाकर) हाय हाय यह क्या? (भली भांत देखकर रोता हुआ) हाय अब तक मैं संदेह ही में पड़ा हूं? अरे मेरी आँखें कहां गई थीं, जिन ने अब तक पुत्र रोहिताश्व को न पहिचाना और कान कहां गये थे, जिन ने अब तक महारानी की बोली न सुनी! हा पुत्र! हा लाल! हा सूर्यवंश के अंकुर! हा हरिश्चन्द्र की विपत्ति के एक मात्र अवलम्ब! हाय! तुम ऐसे कठिन समय में दुखिया माँ को छोड़कर कहाँ गए। अरे तुम्हारे कोमल अंगों को क्या हो गया! तुम ने क्या खेला, क्या खाया, क्या सुख भोगा, कि अभी से चल बसे। पुत्र स्वर्ग ऐसा ही

प्यारा था तो मुझ से कहते, मैं बाहुबल से तुम को इसी शरीर से स्वर्ग पहुंचा देता। अथवा अब इस अभिमान से क्या? भगवान इसी अभिमान का फल यह सब दे रहा है। हाय पुत्र! (रोता है)

आह! मुझसे बढ़कर और कौन मन्दभाग्य होगा! राज्य गया, धन, जन, कुटुम्ब सब छूटा, उस पर भी यह दारुण पुत्रशोक उपस्थित हुआ। भला अब मैं रानी को क्या मुंह दिखाऊं। निस्संदेह मुझसे अधिक अभागा और कौन होगा। न जाने हमारे जन्म के पाप उदय हुए हैं, जो कुछ हमने आज तक किया वह यदि पुण्य होता तो हमें यह दुःख न देखना पड़ता। हमारा धर्म का अभिमान सब झूठा था, क्योंकि कलियुग नहीं है कि अच्छा करते बुरा फल मिले, निस्संदेह मैं महा अभागा और बड़ा पापी हूं। (रंगभूमि की पृथ्वी हिलती है और नेपथ्य में शब्द होता है) क्या प्रलयकाल आ गया? नहीं। यह बड़ा भारी असगुन हुआ है। इसका फल कुछ अच्छा नहीं, वा अब बुरा होना ही क्या बाकी रह गया है, जो होगा, हा। न जाने किस अपराध से दैव इतना रूठा है (रोता है) हा सूर्यकुल आलवालप्रवाल। हा हरिश्चन्द्र हृदयानन्दन! हा शैव्याबलम्ब! हा वत्सरोहिताश्व! हा मातृ पितृ विपत्ति सहचर! तुम हम लोगों को इस दशा में छोड़कर कहां गए! आज हम सचमुच चांडाल हुए। लोग कहेंगे कि इस ने न जाने कौन दुष्कर्म किया था कि पुत्रशोक देखा। हाय हम संसार को क्या मुंह दिखावेंगे। (रोता है) वा संसार में इस बात के प्रगट होने के पहले ही हम भी प्राण त्याग करें। हा निर्लज्ज प्राण तुम अब भी क्यों नहीं निकलते। हा बज्र हृदय इतने पर भी तू क्यों नहीं फटता। नेत्रो, अब और क्या देखना बाकी है कि तुम अब तक खुले हो। या इस व्यर्थ प्रलाप का फल ही क्या है समय बीता जाता है, इसके पूर्व कि किसी से साम्हना हो प्राण त्याग करना ही उत्तम बात है (पेड़ के पास जाकर फांसी देने के योग्य डाल खोजकर उसमें दुपट्टा बांधता है) धर्म! मैंने अपने जान सब अच्छा ही किया, परंतु न जाने किस कारण मेरा सब आचरण तुम्हारे विरुद्ध पड़ा सो मुझे क्षमा करना। (दुपट्टे की फांसी गले में लगाना चाहता है कि एक साथ चौंक कर) गोविन्द गोविन्द! यह मैंने क्या अनर्थ अधर्म विचारा। भला मुझ दास को अपने शरीर पर क्या अधिकार था कि मैंने प्राण त्याग करना चाहा। भगवान् सूर्य इसी क्षण के हेतु अनुशासन करते थे। नारायण नारायण! इस इच्छाकृत मानसिक पाप से कैसे उद्धार होगा! हे सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर क्षमा करना, दुःख से मनुष्य की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती, अब तो मैं चांडालकुल का दास हूं, न अब शैव्या मेरी स्त्री है और न रोहिताश्व मेरा पुत्र। चलूं अपने स्वामी के काम पर सावधान

हो जाऊं, वा देखूं अब दुक्खिनी शैव्या क्या करती है (शैव्या के पीछे जाकर खड़ा होता है)।

शै. –(पहली तरह बहुत रोकर) हाय! अब मैं क्या करूं। अब मैं किसका मुंह देखकर संसार में जीऊंगी। हाय मैं आज से निपूती भई! पुत्रवती स्त्री अपने बालकों पर अब मेरी छाया न पड़ने देंगी। हा नित्य सवेरे उठकर अब मैं किसकी चिन्ता करूंगी। खाने के समय मेरी गोद में बैठकर और मुझ से मांग मांग पर अब कौन खाएगा! मैं परोसी थाली सूनी देखकर कैसे प्रान रक्खूंगी। (रोती है) हाय खेलता खेलता आकर मेरे गले से कौन लपट जायगा और माँ-माँ कहकर तनक तनक बातों पर कौन हठ करेगा। हाय मैं अब किसको अपने आंचल से मुंह की धूल पोंछकर गले लगाऊंगी और किसके अभिमान से बिपत में भी फूली फूली फिरूंगी। (रोती है) या जब रोहिताश्व नहीं तो मैं ही जी के क्या करूंगी। (छाती पीटकर) हाय प्रान, तुम अभी क्यों नही निकले। (हाय मैं ऐसी स्वारथी हूं कि आत्महत्या के नरक के भय से अब भी अपने को नहीं मार डालती। नहीं-नहीं अब मैं न जीऊंगी। या तो इस पेड़ में फांसी लगाकर मर जाऊंगी या गंगा में कूद पड़ंईगी) (उन्मत्त की भांति उठकर दौड़ना चाहती है)।

ह. –(आड़ में से) तनहिं बेंचि दासी कहवाई।
मरत स्वामि आयसु बिन पाई
करु न अधर्म सोचु जिय माहीं।
'पराधीन सपने सुख नाहीं।।'

शै. –(चौकन्नी होकर) अहा! यह किसने इस कठिन समय में धर्म का उपदेश किया। सच है मैं अब इस देह की कौन हूं जो मर सकूं। हा दैव! तुझसे यह भी न देखा गया कि मैं मरकर भी सुख पाऊं। (कुछ धीरज धरके) तो चलूं छाती पर वज्र धरके अब लोकरीति करूं। रोती और लकड़ी चुनकर चिता बनाती हुई) हाय! जिन हाथों से ठोंक-ठोंक कर रोज सुलाती थी, उन्हीं हाथों से आज चिता पर कैसे रक्खूंगी, जिसके मुंह में छाला पड़ने के भय से कभी मैंने गरम दूध भी नहीं पिलाया उसे-(बहुत ही रोती है)।

ह. –धन्य देवी, आखिर तो चंद्र सूर्यकुल की स्त्री हो। तुम न धीरज करोगी तो और कौन करेगा।

शै. –(चिता बनाकर पुत्र के पास आकर उठाना चाहती है और रोती है)।

ह. –तो अब चलें उस से आधा कफन मांगे (आगे बढ़कर और बलपूर्वक आंसुओं को रोककर शैव्या से) महाभागे! स्मशान पति की आज्ञा है कि आधा

कफन दिए बिना कोई मुरदा फूंकने न पावे सो तुम भी पहले हमें कपड़ा दे लो तब क्रिया करो (कफन मांगने को हाथ फैलाता है, आकाश से पुष्पवृष्टि होती है)।

(नेपथ्य में)

अहो धैर्यमहो सत्यमहो दानमहो बलं। त्वया राजन् हरिश्चन्द्र सर्ब्वं लोकोत्तरं कृतं।

(दोनों आश्चर्य से ऊपर देखते हैं)

शै. –हाय। इस कुसमय में आर्यपुत्र की यह कौन स्तुति करता है? वा इस स्तुति ही से क्या है, शास्त्र सब असत्य हैं, नहीं तो आर्यपुत्र से धर्मी की यह गति हो! यह केवल देवताओं और ब्राह्मणों का पाषंड है।

ह. –(दोनों कानों पर हाथ रखकर) नारायण-नारायण! महाभागे ऐसा मत कहोय शास्त्र, ब्राह्मण और देवता त्रिकाल में सत्य हैं। ऐसा कहोगी तो प्रायश्चित होगा। अपना धर्म बिचारो। लाओ मृतकंबल हमें दो और अपना काम आरंभ करो (हाथ फैलाता है)

शै. –(महाराज हरिश्चन्द्र के हाथ में चक्रवर्ती का चिद् देखकर और कुछ स्वर कुछ आकृति से अपने पति को पहचान कर) हा आर्यपुत्र, इतने दिन तक कहाँ छिपे थे! देखो अपने गोद के खेलाए दुलारे पुत्र की दशा! तुम्हारा प्यारा रोहिताश्व देखो अब अनाथ की भांति मसान में पड़ा है। (रोती है।)

ह. –प्रिये धीरज धरो। यह रोने का समय नहीं है। देखो सबेरा हुआ चाहता है, ऐसा न हो कि कोई आ जाय और हम लोगों की जान ले और एक लज्जा मात्र बच गई है, वह भी जाय। चलो कलेजे पर सिल रखकर अब रोहिताश्व की क्रिया करो और आधा कंबल हमको दो।

शै. –(रोती हुई) नाथ! मेरे पास तो एक भी कपड़ा नहीं था, अपना आंचल फाड़कर इसे लपेट लाई हूं, उसमें से भी जो आधा दे दूंगी तो यह खुला ही रह जायगा। हाय! चक्रवर्ती के पुत्र को आज कफन नहीं मिलता! (बहुत रोती है)।

ह. –(बलपूर्वक आंसुओं को रोककर और बहुत धीरज धर कर) प्यारी, रोओ मत। ऐसे ही समय में तो धीरज और धरम रखना काम है। मैं जिस का दास हूं उस की आज्ञा है कि बिना आधा कफन लिए क्रिया मत करने दो। इससे मैं यदि अपनी स्त्री और अपना पुत्र समझकर तुम से इसका आधा कफन न लूं तो बड़ा अधर्म हो। जिस हरिश्चन्द्र ने उदय से अस्त तक की पृथ्वी के लिए धर्म

न छोड़ा उसका धर्म आध गज कपड़े के वास्ते मत छुड़ाओ और कफन से जल्दी आधा कपड़ा फाड़ दो। देखो सबेरा हुआ चाहता है, ऐसा न हो कि कुलगुरु भगवान् सूर्य अपने वंश की यह दुर्दशा देखकर चित् में उदास हों। (हाथ फैलाता है)

शै. –(रोती हुई) नाथ जो आज्ञा। (रोहिताश्व का मृतकंबल फाड़ा चाहती है कि रंगभूमि की पृथ्वी हिलती है, तोप छूटने का सा बड़ा शब्द और बिजली का सा उजाला होता है। नेपथ्य में बाजे की ओर बस धन्य और जय-जय की ध्वनि होती है, फूल बरसते हैं और भगवान् नारायण प्रकट होकर राजा हरिश्चन्द्र का हाथ पकड़ लेते हैं।)

भ. –बस महाराज बस (धर्म और सत्य सब की परमावधि हो गई। देखो तुम्हारे पुण्य भय से पृथ्वी बारम्बार कांपती है, अब त्रैलोक्य की रक्षा करो। (नेत्रों से आंसू बहते हैं)

ह. –(साष्टांग दंडवत् करके रोता हुआ गद्गद् स्वर से) भगवान! मेरे वास्ते आपने परिश्रम किया! कहाँ यह 'मशान भूमि, कहाँ यह मर्त्यलोक, कहाँ मेरा मनुष्य शरीर और कहां पूर्ण परब्रह्म सच्चिदानंदघन साक्षात् आप! (प्रेम के आंसुओं से गद्गद् कंठ होने से कुछ कहा नहीं जाता)

भ. –(शैव्या से) पुत्री अब शोच मत कर! धन्य तेरा सौभाग्य कि तुझे राजर्षि हरिश्चन्द्र ऐसा पति मिला है (रोहिताश्व की ओर देखकर वत्स ब्रेरेट बंद रोहिताश्व उठो, देखो तुम्हारे माता-पिता देर से तुम्हारे मिलने को व्याकुल हो रहे हैं।) (रोहिताश्व उठ खड़ा होता है और आश्चर्य से भवगान् को प्रणाम कर के माता-पिता का मुंह देखने लगता है, आकाश से फिर पुष्पवृष्टि होती है)

ह. और शै.: (आश्चर्य, आनंद, करुणा और प्रेम से कुछ कह नहीं सकते, आंखों से आंसू बहते हैं और एकटक भगवान् के मुखारविंद की ओर देखते हैं)

(श्री महादेव, पार्वती, भैरव, धर्म, सत्य, इंद्र और विश्वामित्र आते हैं)1

सब –धन्य महाराज हरिश्चन्द्र धन्य! जो आपने किया, सो किसी ने न किया न करेगा।

(राजा हरिश्चन्द्र शैव्या और रोहिताश्व सबको प्रणाम करते हैं)

बि. –महाराज यह केवल चन्द्र सूर्य तक आप की कीर्त्तिस्थिर रहने के हेतु मैंने छल किया था, सो क्षमा कीजिए और अपना राज्य लीजिए।

(हरिश्चन्द्र भगवान और धर्म का मुंह देखते हैं)

धर्म –महाराज राज आप का है, इसका मैं साक्षी हूं आप निस्संदेह लीजिए।

सत्य –ठीक है, जिसने हमारा अस्तित्व संसार में प्रत्यक्ष कर दिखाया उसी का पृथ्वी का राज्य है।

श्रीमहादेव –पुत्र हरिश्चन्द्र, भगवान नारायण के अनुग्रह से ब्रह्मलोक पर्यंत तुम ने पाया, तथापि मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी कीर्ति, जब तक पृथ्वी है, तब तक स्थिर रहे और रोहिताश्व दीर्घायु, प्रतापी और चक्रवर्ती हो,।

पा. –पुत्री शैव्या! तुम्हारे पति के साथ तुम्हारी कीर्ति स्वर्ग की स्त्रियाँ गावें, तुम्हारी पुत्रवधू सौभाग्यवती हो और लक्ष्मी तुम्हारे घर का कभी त्याग न करे।

(हरिश्चन्द्र और शैव्या प्रणाम करते हैं)

भै. –और जो तुम्हारी कीर्त्ति कहे सुने और उसका अनुसरण करे, उस की भैरवी यातना न हो।

इन्द्र –(राजा को आलिंगन करके और हाथ जोड़ के) महाराज, मुझे क्षमा कीजिये। यह सब मेरी दुष्टता थी, परंतु इस बात से आप का तो कल्याण ही हुआ। स्वर्ग कौन कहे आप ने अपने सत्यबल से ब्रह्मपद पाया। देखिये आप की रक्षा के हेतु श्रीशिव जी ने भैरवनाथ को आज्ञा दी थी, आप उपाध्यक्ष बने थे, नारद जी बटु बने थे, साक्षात् धर्म ने आप के हेतु चांडाल और कापालिक का भेष लिया और सत्य ने आप ही के कारण चांडाल के अनुचर और बैताल का रूप धारण किया, न आप बिके, न दास हुए, यह सब चरित्र भगवान नारायण की इच्छा से केवल आप के सुयश के हेतु किया गया।

ह. –(गद्गद स्वर से) अपने दासों का यश बढ़ाने वाला और कौन है।

भ. –महाराज। और जो भी इच्छा हो मांगो।

ह. –(प्रणाम करके गद्गद स्वर से) प्रभु! आप के दर्शन से सब इच्छा पूर्ण हो गई, तथापि आप की आज्ञानुसार यह वर मांगता हूं कि मेरी प्रजा भी मेरे साथ बैकुंठ जाय और सत्य सदा पृथ्वी पर स्थिर रहे।

भ. –एवमस्तु, तुम ऐसे ही पुण्यात्मा हो कि तुम्हारे कारण अयोध्या के कीट पतंग जीव मात्र सब परमधाम जायंगे और कलियुग में धर्म के सब चरण टूट जायंगे, तब भी वह तुम्हारी इच्छानुसार सत्य मात्र एक पद से स्थित रहेगा। इतना ही देकर मुझे सन्तोष नहीं हुआ, कुछ और भी मांगो। मैं तुम्हें क्या-क्या दूं, क्योंकि मैं तो अपने ही को तुम्हें दे चुका। तथापि मेरी इच्छा यही है कि तुम को कुछ और वर दूं। तुम्हें वर देने में मुझे सन्तोष नहीं होता।

ह. –(हाथ जोड़कर) भगवान मुझे अब कौन इच्छा है। मैं और क्या वर मांगूं, तथापि भरत का यह वाक्य सुफल हो–

खल गनन सो सज्जन दु:खी मति होइ, हरिपद रति रहे।
उपधर्म छूटैं सत्व निज भारत गहै, कर दु:ख बहै।।
बुध तजहिं मत्सर, नारि नर सम होहिं, सबजगसुखल है।
तजि ग्रामकविता सुकविजन की अमृत बानी सब कहै।।
(पुष्पवृष्टि और बाजे की धुनि के साथ जवनिका गिरती है)

4

भारतदुर्दशा

प्रथम अंक

स्थान - बीथी

(एक योगी गाता है)

(लावनी)

रोअहू सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई।। ध्रुव।।
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो।।
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो।।
अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई।।
जहँ भए शाक्य हरिचंद: नहुष ययाती।
जहँ राम युधिष्ठिर बासुदेव सर्याती।।
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती।
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती।।
अब जहँ देखहु दु:खहिं दु:ख दिखाई।

हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई।।
लरि बैदिक जैन डुबाई पुस्तक सारी।
करि कलह बुलाई जवनसैन पुनि भारी।।
तिन नासी बुधि बल विद्या धन बहु बारी।
छाई अब आलस कुमति कलह अंधियारी।।
भए अंध पंगु सेब दीन हीन बिलखाई।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई।।
अँगरेराज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।।
ताहू पै महँगी काल रोग बिस्तारी।
दिन दिन दूने दु:ख ईस देत हा हा री।।
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई।।
(पटीत्तोलन)

दूसरा अंक

स्थान–श्मशान, टूटे–फूटे मंदिर
कौआ, कुत्ता, स्यार घूमते हुए, अस्थि इधर–उधर पड़ी है।
(भारत' का प्रवेश)

भारत–हा! यही वही भूमि है जहाँ साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णचंद्र के दूतत्व करने पर भी वीरोत्तम दुर्योधन ने कहा था, 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव' और आज हम उसी को देखते हैं कि 'मशान हो रही है। अरे यहां की योग्यता, विद्या, सभ्यता, उद्योग, उदारता, धन, बल, मान, दृढ़चित्तता, सत्य सब कहां गए? अरे पामर जयचद्र! तेरे उत्पन्न हुए बिना मेरा क्या डूबा जाता था? हाय! अब मुझे कोई शरण देने वाला नहीं। (रोता है) मात:य राजराजेश्वरि बिजयिनी! मुझे बचाओ। अपनाए की लाज रक्खो। अरे दैव ने सब कुछ मेरा नाश कर दिया, पर अभी संतुष्ट नहीं हुआ। हाय! मैंने जाना था कि अँगरेजों के हाथ में आकर हम अपने दु:खी मन को पुस्तकों से बहलावेंगे और सुख मानकर जन्म बितावेंगे, पर दैव से वह भी न सहा गया। हाय! कोई बचाने वाला नहीं।

(गीत)

कोऊ नहिं पकरत मेरो हाथ।

बीस कोटि सुत होत फिरत मैं हा हा होय अनाथ।।
जाकी सरन गहत सोई मारत सुनत न कोउ दु:खगाथ।
दीन बन्यौ इस सों उन डोलत टकरावत निज माथ।।
दिन दिन बिपति बढ़त सुख छीजत देत कोऊ नहिं साथ।
सब विधि दु:ख सागर मैं डूबत धाई उबारौ नाथ।।

(नेपथ्य में गंभीर और कठोर स्वर से)

अब भी तुझको अपने नाथ का भरोसा है! खड़ा तो रह। अभी मैंने तेरी आशा की जड़ न खोद डाली तो मेरा नाम नहीं।

भारत–(डरता और काँपता हुआ रोकर) अरे यह विकराल वदन कौन मुँह बाए मेरी ओर दौड़ता चला आता है? हाय-हाय इससे कैसे बचेंगे? अरे यह तो मेरा एक ही कौर कर जायेगा! हाय! परमेश्वर बैकुंठ में और राजराजेश्वरी सात समुद्र पार, अब मेरी कौन दशा होगी? हाय अब मेरे प्राण कौन बचावेगा? अब कोई उपाय नहीं। अब मरा, अब मरा। (मूर्छा खाकर गिरता है)

(निर्लज्जता1 आती है)

निर्लज्जता–मेरे आछत तुमको अपने प्राण की फिक्र। छि: छि:! जीओगे तो भीख माँग खाओगे। प्राण देना तो कायरों का काम है। क्या हुआ जो धनमान सब गया 'एक जिंदगी हजार नेआमत है।' (देखकर) अरे सचमुच बेहोश हो गया तो उठा ले चलें। नहीं-नहीं मुझसे अकेले न उठेगा। (नेपथ्य की ओर) आशा! आशा! जल्दी आओ।

(आशा आती है)

निर्लज्जता–यह देखो भारत मरता है, जल्दी इसे घर उठा ले चलो।

आशा–मेरे आछत किसी ने भी प्राण दिया है? ले चलोय अभी जिलाती हूँ।

(दोनों उठाकर भारत को ले जाते हैं)

तीसरा अंक

स्थान-मैदान

(फौज के डेरे दिखाई पड़ते हैं! भारतदुर्दैव ' आता है)

भारतदुर्दैव–कहाँ गया भारत मूर्ख! जिसको अब भी परमेश्वर और राजराजेश्वरी का भरोसा है? देखो तो अभी इसकी क्या क्या दुर्दशा होती है।

(नाचता और गाता हुआ)

अरे!
उपजा ईश्वर कोप से औ आया भारत बीच।
छार खार सब हिंद करूँ मैं, तो उत्तम नहिं नीच।
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी।
कौड़ी-कौड़ी को करूँ मैं सबको मुहताज।
भूखे प्रान निकालूँ इनका, तो मैं सच्चा राज। मुझे।
काल भी लाऊँ महँगी लाऊँ और बुलाऊँ रोग।
पानी उलटाकर बरसाऊँ, छाऊँ जग में सोग। मुझे।
फूट बैर औ कलह बुलाऊँ, ल्याऊँ सुस्ती जोर।
घर घर में आलस फैलाऊँ, छाऊँ दुःख घनघोर। मुझे।
काफर काला नीच पुकारूँ, तोडूँ पैर औ हाथ।
दूँ इनको संतोष खुशामद, कायरता भी साथ। मुझे।
मरी बुलाऊँ देस उजाडूँ महँगा करके अन्न।
सबके ऊपर टिकस लगाऊ, धन है भुझको धन्न।
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी।
(नाचता है)

अब भारत कहाँ जाता है, ले लिया है। एक तस्सा बाकी है, अबकी हाथ में वह भी साफ है। भला हमारे बिना और ऐसा कौन कर सकता है कि अँगरेजी अमलदारी में भी हिंदू न सुधरें! लिया भी तो अँगरेजों से औगुन! हा हाहा! कुछ पढ़े लिखे मिलकर देश सुधारा चाहते हैं? हहा हहा! एक चने से भाड़ फोड़गे। ऐसे लोगों को दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके, जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो, उसको उतना बड़ा मेडल और खिताब दो। हैं! हमारी पालिसी के विरुद्ध उद्योग करते हैं मूर्ख! यह क्यों? मैं अपनी फौज ही भेज के न सब चौपट करता हूँ। (नेपथ्य की ओर देखकर) अरे कोई है? सत्यानाश फौजदार को तो भेजो।

(नेपथ्य में से 'जो आज्ञा' का शब्द सुनाई पड़ता है)
देखो मैं क्या करता हूँ। किधर किधर भागेंगे।
(सत्यानाश फौजदार आते हैं)
(नाचता हुआ)
सत्यानाश फौ–हमारा नाम है सत्यानास।

धरके हम लाखों ही भेस।
बहुत हमने फैलाए धर्म।
होके जयचंद हमने इक बार।
हलाकू चंगेजो तैमूर।
दुरानी अहमद नादिरसाह।
हैं, हममें तीनों कल बल छल।
पिलावैंगे हम खूब शराब।

भारतदुर्दैव–अंहा सत्यानाशजी आए। आओ, देखो अभी फौज को हुक्म दो कि सब लोग मिल के चारों ओर से हिंदुस्तान को घेर लें, जो पहले से घेरे हैं, उनके सिवा औरों को भी आज्ञा दो कि बढ़ चलें।

सत्यानाश फौजदार–महाराज 'इंद्रजीत सन जो कछु भाखा, सो सब जनु पहिलहिं करि राखा।' जिनको आज्ञा हो चुकी है, वे तो अपना काम कर ही चुके और जिसको जो हुक्म हो, कर दिया जाय।

भारतदुर्दैव–किसने किसने क्या क्या किया है?

सत्यानाश फौजदार–महाराज! धर्म ने सबके पहिले सेवा की।

रचि बहु बिधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाए।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए।।
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान पान संबंध सबन सों बरजिं छुड़ायो।।
जन्मपत्र विधि मिले ब्याह नहिं होन देत अब।
बालकपन में ब्याहि प्रीतिबल नास कियो सब।।
करि कुलान के बहुत ब्याह बल बीरज मारयो।
बिधवा ब्याह निषेध कियो बिभिचार प्रचार्‌यो।।
रोकि विलायतगमन कूपमंडूक बना्यो।
यौवन को संसर्ग छुड़ाई प्रचार घटायो।।
बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
ईश्वर सो सब बिमुख किए हिंदू घबराई।।

भारतदुर्दैव–आहा! हाहा! शाबाश! शाबाश! हाँ और भी कुछ धर्म ने किया?

सत्यानाश फौजदार–हाँ महाराज।

अपरस सोल्हा छूत रचि, भोजनप्रीति छुड़ाय।
किए तीन तेरह सबै, चौका चौका छाय।।

भारतदुर्दैव–और भी कुछ?

सत्यानाश फौजदार–हाँ।

रचिकै मत वेदांत को, सबको ब्रह्म बनाय।

हिंदुन पुरुषोत्तम कियो, तोरि हाथ अरू पाय।।

महाराज, वेदांत ने बड़ा ही उपकार किया। सब हिंदू ब्रह्म हो गए। किसी को इतिकर्त्तव्यता बाकी ही न रही। ज्ञानी बनकर ईश्वर से विमुख हुए, रुक्ष हुए, अभिमानी हुए और इसी से स्नेहशून्य हो गए। जब स्नेह ही नहीं, तब देशोद्धार का प्रयत्न कहां! बस, जय शंकर की।

सत्यानाश फौजदार–हाँ महाराज।

भारतदुर्दैव–अच्छा और किसने किसने क्या किया?

सत्यानाश फौजदार–महाराज, फिर संतोष ने भी बड़ा काम किया। राजा प्रजा सबको अपना चेला बना लिया। अब हिंदुओं को खाने मात्र से काम, देश से कुछ काम नहीं। राज न रहा, पेनसन ही सही। रोजगार न रहा, सूद ही सही। वह भी नहीं, तो घर ही का सही, 'संतोषं परमं सुखं' रोटी को ही सराह-सराह के खाते हैं। उद्यम की ओ देखते ही नहीं। निरुद्यमता ने भी संतोष को बड़ी सहायता दी। इन दोनों को बहादुरी का मेडल जरूर मिले। व्यापार को इन्हीं ने मार गिराया।

भारतदुर्दैव–और किसने क्या किया?

सत्यानाश फौजदार–फिर महाराज जो धन की सेना बची थी, उसको जीतने को भी मैंने बड़े बांके वीर भेजे। अपव्यय, अदालत, फैशन और सिफारिश इन चारों ने सारी दुश्मन की फौज तितिर बितिर कर दी। अपव्यय ने खूब लूट मचाई। अदालत ने भी अच्छे हाथ साफ किए। फैशन ने तो बिल और टोटल के इतने गोले मारे कि अंटाधार कर दिया और सिफारिश ने भी खूब ही छकाया। पूरब से पश्चिम और पश्चिम से पूरब तक पीछा करके खूब भगाया। तुहफे, घूस और चंदे के ऐसे बम के गोले चलाए कि 'बम बोल गई बाबा की चारों दिसा' धूम निकल पड़ी। मोटा भाई बना बनाकर मूँड़ लिया। एक तो खुद ही यह सब पँड़िया के ताऊ, उस पर चुटकी बजी, खुशामद हुई, डर दिखाया गया, बराबरी का झगड़ा उठा, धांय धांय गिनी गई1 वर्णमाला कंठ कराई, 2 बस हाथी के खाए कैथ हो गए। धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची, समुद्र के पार ही शरण मिली।

भारतदुर्दैव–और भला कुछ लोग छिपाकर भी दुश्मनों की ओर भेजे थे?

सत्यानाश फौजदार–हाँ, सुनिए। फूट, डाह, लोभ, भेय, उपेक्षा, स्वार्थपरता, पक्षपात, हठ, शोक, अश्रुमार्जन और निर्बलता इन एक दरजन दूती और दूतों को शत्रुओं की फौज में हिला मिलाकर ऐसा पंचामृत बनाया कि सारे शत्रु बिना मारे घंटा पर के गरुड़ हो गए। फिर अंत में भिन्नता गई। इसने ऐसा सबको काई की तरह फाड़ा धर्म, चाल, व्यवहार, खाना-पीना सब एक एक योजन पर अलग-अलग कर दिया। अब आवें बचा ऐक्य! देखें आ ही के क्या करते हैं!

भारतदुर्दैव–भला भारत का शस्य नामक फौजदार अभी जीता है कि मर गया? उसकी पलटन कैसी है?

सत्यानाश फौजदार–महाराज! उसका बल तो आपकी अतिवृष्टि और अनावृष्टि नामक फौजों ने बिल्कुल तोड़ दिया। लाही, कीड़े, टिड्डी और पाला इत्यादि सिपाहियों ने खूब ही सहायता की। बीच में नील ने भी नील बनकर अच्छा लंकादहन किया।

भारतदुर्दैव–वाह! वाह! बड़े आनंद की बात सुनाई तो अच्छा तुम जाओ। कुछ परवाह नहीं, अब ले लिया है। बाकी-साकी अभी सपराए डालता हूँ। अब भारत कहाँ जाता है। तुम होशियार रहना और रोग, महर्घ, कर, मद्य, आलस और अंधकार को जरा क्रम से मेरे पास भेज दो।

सत्यानाश फौजदार–जो आज्ञा।

जाता है,

भारतदुर्दैव–अब उसको कहीं शरण न मिलेगी। धन, बल और विद्या तीनों गई। अब किसके बल कूदेगा?

(जवनिका गिरती है)

पटोत्तोलन

चौथा अंक

(कमरा अँगरेजी सजा हुआ, मेज, कुरसी लगी हुई। कुरसी पर भारत दुर्दैव बैठा है)

(रोग का प्रवेश)

रोग (गाता हुआ)–जगत् सब मानत मेरी आन।
मेरी ही टट्टी रचि खेलत नित सिकार भगवान।।
मृत्यु कलंक मिटावत मैं ही मोसम और न आन।

परम पिता हम हीं वैद्यन के अत्तारन के प्रान।।

मेरा प्रभाव जगत विदित है। कुपथ्य का मित्र और पथ्य का शत्रु मैं ही हूँ। त्रैलोक्य में ऐसा कौन है, जिस पर मेरा प्रभुत्व नहीं। नजर, श्राप, प्रेत, टोना, टनमन, देवी-देवता सब मेरे ही नामांतर हैं। मेरी ही बदौलत ओझा, दरसनिए, सयाने, पंडित, सिद्ध लोगों को ठगते हैं। (आतंक से) भला मेरे प्रबल प्रताप को ऐसा कौन है, जो निवारण करे। हह! चुंगी की कमेटी सफाई करके मेरा निवारण करना चाहती है, यह नहीं जानती कि जितनी सड़क चौड़ी होगी, उतने ही हम भी 'जस-जस सुरसा वदन बढ़ावा, तासु दुगुन कपि रूप दिखावा'। (भारतदुदैव को देखकर) महाराज! क्या आज्ञा है?

भारतदुर्दैव–आज्ञा क्या है, भारत को चारों ओर से घेर लो।

रोग–महाराज! भारत तो अब मेरे प्रवेशमात्र से मर जायेगा। घेरने को कौन काम है? धन्वंतरि और काशिराज दिवोदास का अब समय नहीं है और न सुश्रुत, वाग्भट्ट, चरक ही हैं। बैदगी अब केवल जीविका के हेतु बची है। काल के बल से औषधों के गुणों और लोगों की प्रकृति में भी भेद पड़ गया। बस अब हमें कौन जीतेगा और फिर हम ऐसी सेना भेजेंगे, जिनका भारतवासियों ने कभी नाम तो सुना ही न होगा, तब भला वे उसका प्रतिकार क्या करेंगे! हम भेजेंगे विस्फोटक, हैजा, डेंगू, अपाप्लेक्सी। भला इनको हिंदू लोग क्या रोकेंगे? ये किधर से चढ़ाई करते हैं और कैसे लड़ते हैं, जानेंगे तो हई नहीं, फिर छुट्टी हुई वरंच महाराज, इन्हीं से मारे जायँगे और इन्हीं को देवता करके पूजेंगे, यहाँ तक कि मेरे शत्रु डाक्टर और विद्वान् इसी विस्फोटक के नाश का उपाय टीका लगाना इत्यादि कहेंगे तो भी ये सब उसको शीतला के डर से न मानंगे और उपाय आछत अपने हाथ प्यारे बच्चों की जान लेंगे।

भारतदुर्दैव–तो अच्छा तुम जाओ। महर्घ और टिकस भी यहाँ आते होंगे सो उनको साथ लिए जाओ। अतिवृष्टि, अनावृष्टि की सेना भी वहाँ जा चुकी है। अनक्य और अंधकार की सहायता से तुम्हें कोई भी रोक न सकेगा। यह लो पान का बीड़ा लो। (बीड़ा देता है)

(रोग बीड़ा लेकर प्रणाम करके जाता है)

भारतदुर्दैव–बस, अब कुछ चिंता नहीं, चारों ओर से तो मेरी सेना ने उसको घेर लिया, अब कहाँ बच सकता है।

(आलस्य का प्रवेश1)

आलस्य–हहा! एक पोस्ती ने कहा, पोस्ती ने पी पोस्त नै दिन चले अढ़ाई कोस। दूसरे ने जवाब दिया, अबे वह पोस्ती न होगा डाक का हरकारा होगा। पोस्ती ने जब पोस्त पी तो या कूँड़ी के उस पार या इस पार ठीक है। एक बारी में हमारे दो चेले लेटे थे ओर उसी राह से एक सवार जाता था। पहिले ने पुकारा ''भाई सवार, सवार, यह पक्का आम टपक कर मेरी छाती पर पड़ा है, जरा मेरे मुँह में तो डाल।" सवार ने कहा ''अजी तुम बड़े आलसी हो। तुम्हारी छाती पर आम पड़ा है सिर्फ हाथ से उठाकर मुँह में डालने में यह आलस है!'' दूसरा बोला ठीक है साहब, यह बड़ा ही आलसी है। रात भर कुत्ता मेरा मुँह चाटा किया और यह पास ही पड़ा था, पर इसने न हाँका।" सच है किस जिंदगी के वास्ते तकलीफ उठाना, मजे में हालमस्त पड़े रहना। सुख केवल हम में है 'आलसी पड़े कुएँ में वहीं चौन है।'

(गाता है)

(गश्जल)

दुनिया में हाथ पैर हिलाना नहीं अच्छा।
मर जाना पै उठके कहीं जाना नहीं अच्छा।।
बिस्तर प मिस्ले लोथ पड़े रहना हमेशा।
बंदर की तरह धूम मचाना नहीं अच्छा।।
"रहने दो जमीं पर मुझे आराम यहीं है।"
छेड़ो न नक्शेपा है मिटाना नहीं अच्छा।।
उठा करके घर से कौन चले यार के घर तक।
''मौत अच्छी है, पर दिल का लगाना नहीं अच्छा।।
धोती भी पहिने जब कि कोई गैर पिन्हा दे।
उमरा को हाथ पैर चलाना नहीं अच्छा।।
सिर भारी चीज है इस तकलीफ हो तो हो।
पर जीभ विचारी को सताना नहीं अच्छा।।
फाकों से मरिए पर न कोई काम कीजिए।
दुनिया नहीं अच्छी है जमाना नहीं अच्छा।।
सिजदे से गर बिहिश्त मिले दूर कीजिए।
दोजष्ख ही सही सिर का झुकाना नहीं अच्छा।।
मिल जाय हिंद खाक में हम काहिलों को क्या।
ऐ मीरे फर्श रंज उठाना नहीं अच्छा।।

और क्या। काजी जो दुबले क्यों, कहैं शहर के अंदेशे से। अरे 'कोउ नृप होउ हमें का हानी, चौरि छाँड़ि नहिं होउब रानी।' आनंद से जन्म बिताना। 'अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम। दास मलूका कह गए, सबके दाता राम।।' जो पढ़तव्यं सो मरतव्यं, तो न पढतव्यं सो भी मरतव्यं तब फिर दंतकटाकट किं कर्तव्यं?' भई जात में ब्राह्मण, धर्म में वैरागी, रोजगार में सूद और दिल्लगी में गप सब से अच्छी। घर बैठे जन्म बिताना, न कहीं जाना और न कहीं आना सब खाना, हगना, मूतना, सोना, बात बनाना, तान मारना और मस्त रहना। अमीर के सर पर और क्या सुरखाब का पर होता है, जो कोई काम न करे वही अमीर। 'तवंगरी बदिलस्त न बमाल।'1 दोई तो मस्त हैं या मालमस्त या हालमस्त

(भारतदुर्दैव को देखकर उसके पास जाकर प्रणाम करके) महाराज! मैं सुख से सोया था कि आपकी आज्ञा पहुँची, ज्यों त्यों कर यहाँ हाजिर हुआ। अब हुक्म?

भारतदुर्दैव–तुम्हारे और साथी सब हिंदुस्तान की ओर भेजे गए हैं।, तुम भी वहीं जाओ और अपनी जोगनिंद्रा से सब को अपने वश में करो।

आलस्य–बहुत अच्छा। (आप ही आप) आह रे बप्पा! अब हिंदुस्तान में जाना पड़ा। तब चलो धीरे-धीरे चलें। हुक्म न मानेंगे तो लोग कहेंगे 'सर सरबसखाई भोग करि नाना समरभूमि भा दुरलभ प्राना।' अरे करने को दैव आप ही करेगा, हमारा कौन काम है, पर चलें।

(यही सब बुड़बुडाता हुआ जाता है)

(मदिरा आती है)

मदिरा–भगवान् सोम की मैं कन्या हूँ। प्रथम वेदों ने मधु नाम से मुझे आदर दिया। फिर देवताओं की प्रिया होने से मैं सुरा कहलाई और मेरे प्रचार के हेतु श्रौत्रमणि यज्ञ की सृष्टि हुई। स्मृति और पुराणों में भी प्रवृत्ति मेरी नित्य कही गई। तंत्र तो केवल मेरी ही हेतु बने। संसार में चार मत बहुत प्रबल हैं, हिंदू बौद्ध, मुसलमान और क्रिस्तान। इन चारों में मेरी चार पवित्र प्रेममूर्ति विराजमान है। सोमपान, बीराचमन, शराबूनतहूरा और बाप टैजिग वाइन। भला कोई कहे तो इनको अशुद्ध? या जो पशु हैं उन्होंने अशुद्ध कहा ही तो क्या हमारे चाहनेवालों के आगे वे लोग बहुत होंगे तो फी संकड़े दस हांगे, जगत् में तो हम व्याप्त हैं। हमारे चेले लोग सदा यही कहा करते हैं। फिर सरकार के राज्य के तो हम एकमात्र भूषण हैं।

दूध सुरा दधिहू सुरा, सुरा अन्न धन धाम।
वेद सुरा ईश्वर सुरा, सुरा स्वर्ग को नाम।।
जाति सुरा विद्या सुरा, बिनु मद रहै न कोय।
सुधरी आजादी सुरा, जगत् सुरामय होय।।
ब्राह्मण क्षत्री वैश्य अरू, सैयद सेख पठान।
दै बताइ मोहि कौन जो, करत न मदिरा पान।।
पियत भट्ट के ठट्ट अरु, गुजरातिन के वृंद।
गौतम पियत अनंद सों, पियत अग्र के नंद।।
होटल में मदिरा पिएँ, चोट लगे नहिं लाज।
लोट लए ठाढे रहत, टोटल दैवे काज।।
कोउ कहत मद नहिं पिएँ, तो कछु लिख्यों न जाय।
कोउ कहत हम मद्य बल, करत वकीली आय।।
मद्यहि के परभाव सों, रचन अनेकन ग्रंथ।
मद्यहि के परकास सों, लखत धरम को पंथ।।
मद पी विधिजग को करत, पालत हरि करि पान।
मद्यहि पी कै नाश सब, करत शंभु भगवान्।।
विष्णु बारूणी, पोर्ट पुरुषोत्तम, मद्य मुरारि।
शांपिन शिव गौड़ी गिरिश, ब्रांड़ी ब्रह्म बिचारि।।
मेरी तो धन बुद्धि बल, कुल लज्जा पति गेह।
माय बाप सुत धर्म सब, मदिरा ही न सँदेह।।
सोक हरन आनँद करन, उमगावन सब गात।
हरि मैं तपबिनु लय करनि, केवल मद्य लखात।।
सरकारहि मंजूर जो मेरा होत उपाय।
तो सब सों बढ़ि मद्य पै देती कर बैठाय।।
हमहीं कों या राज की, परम निसानी जान।
कीर्ति खंभ सी जग गड़ी, जब लौं थिर सति भान।।
राजमहल के चिन्ह नहिं, मिलिहैं जग इत कोय।
तबहू बोतल टूक बहु, मिलिहैं कीरति होय।।

हमारी प्रवृत्ति के हेतु कुछ यत्न करने की आवश्यकता नहीं। मनु पुकारते हैं 'प्रवृत्तिरेषा भूतानां' और भागवत में कहा है 'लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्य यास्ति जंतोः।' उस पर भी वर्तमान समय की सभ्यता की तो मैं मुख्यमूलसूत्र हूँ।

विषयेंद्रियों के सुखानुभव मेरे कारण द्विगुणित हो जाते हैं। संगीत साहित्य की तो एकमात्र जननी हूँ, फिर ऐसा कौन है, जो मुझसे विमुख हो?

(गाती है)

(राग काफी, धनाश्री का मेल, ताल धमार)

मदवा पीले पागल जीवन बीत्यौ जात।

बिनु मद जगत सार कछु नाहीं मान हमारी बात।।

पी प्याला छक छक आनँद से नितहि साँझ और प्रात।

झूमत चल डगमगी चाल से मारि लाज को लात।।

हाथी मच्छड़, सूरज जुगुनू जाके पिए लखात।

ऐसी सिद्धि छोड़ि मन मूरख काहे ठोकर खात।।

(राजा को देखकर) महाराज! कहिए क्या हुक्म है?

भारतदुर्दैव–हमने बहुत से अपने वीर हिंदुस्तान में भेजे हैं, परंतु मुझको तुमसे जितनी आशा है, उतनी और किसी से नहीं है। जरा तुम भी हिंदुस्तान की तरफ जाओ और हिंदुओं से समझो तो।

मदिरा–हिंदुओं के तो मैं मुद्दत से मुँहलगी हूँ, अब आपकी आज्ञा से और भी अपना जाल फैलाऊँगी और छोटे-बड़े सबके गले का हार बन जाऊँगी। (जाती है)

(रंगशाला के दीपों में से अनेक बुझा दिए जायँगे)

(अंधकार का प्रवेश)

(आँधी आने की भाँति शब्द सुनाई पड़ता है)

अंधकार–(गाता हुआ स्खलित नृत्य करता है)

(राग काफी)

जै जै कलियुग राज की, जै महामोह महराज की।

अटल छत्र सिर फिरत थाप जग मानत जाके काज की।।

कलह अविद्या मोह मूढ़ता सबै नास के साज की।।

हमारा सृष्टि संहार कारक भगवान् तमोगुण जी से जन्म है। चोर, उलूक और लंपटों के हम एकमात्र जीवन है। पर्वतों की गुहा, शोकितों के नेत्र, मूर्खों के मस्तिष्क और खलों के चित्त में हमारा निवास है। हृदय के और प्रत्यक्ष, चारों नेत्र हमारे प्रताप से बेकाम हो जाते हैं। हमारे दो स्वरूप हैं, एक आध्यात्मिक और एक आधिभौतिक, जो लोक में अज्ञान और अँधेरे के नाम से प्रसिद्ध हैं। सुनते हैं कि भारतवर्ष में भेजने को मुझे मेरे परम पूज्य मित्र दुर्दैव महाराज ने आज बुलाया है।

चलें देखें क्या कहते हैं (आगे बढ़कर) महाराज की जय हो, कहिए क्या अनुमति है?

भारतदुर्दैव–आओ मित्र! तुम्हारे बिना तो सब सूना था। यद्यपि मैंने अपने बहुत से लोग भारत विजय को भेजे हैं, पर तुम्हारे बिना सब निर्बल हैं। मुझको तुम्हारा बड़ा भरोसा है, अब तुमको भी वहाँ जाना होगा।

अंध.–आपके काम के वास्ते भारत क्या वस्तु है, कहिए मैं विलायत जाऊँ।

भारतदुर्दैव–नहीं, विलायत जाने का अभी समय नहीं, अभी वहाँ त्रेता, द्वापर है।

अंध.–नहीं, मैंने एक बात कही। भला जब तक वहाँ दुष्टा विद्या का प्राबल्य है, मैं वहाँ जाही के क्या करूँगा? गैस और मैगनीशिया से मेरी प्रतिष्ठा भंग न हो जायेगी।

भारतदुर्दैव–हाँ, तो तुम हिंदुस्तान में जाओ और जिसमें हमारा हित हो सो करो। बस 'बहुत बुझाई तुमहिं का कहऊँ, परम चतुर मैं जानत अहऊँ।'

अंध–बहुत अच्छा, मैं चला। बस जाते ही देखिए क्या करता हूँ। (नेपथ्य में बैतालिक गान और गीत की समाप्ति में क्रम से पूर्ण अंधकार और पटाक्षेप)

निहचौ भारत को अब नास।
जब महराज विमुख उनसों तुम निज मति करी प्रकास।।
अब कहुँ सरन तिन्हैं नहिं मिलिहै ह्वै है सब बल चूर।
बुधि विद्या धन धान सबै अब तिनको मिलिहैं धूर।।
अब नहिं राम धर्म अर्जुन नहिं शाक्यसिंह अरु व्यास।
करिहै कौन पराक्रम इनमें को दैहे अब आस।।
सेवाजी रनजीत सिंह हू अब नहिं बाकी जौन।
करिहैं वधू नाम भारत को अब तो नृप मौन।।
वही उदैपुर जैपुर रीवाँ पन्ना आदिक राज।
परबस भए न सोच सकहिं कुछ करि निज बल बेकाज।।
अँगरेजहु को राज पाइकै रहे कूढ़ के कूढ़।
स्वारथपर विभिन्न-मति-भूले हिंदू सब ह्वै मूढ़।।
जग के देस बढ़त बदि बदि के सब बाजी जेहि काल।
ताहू समय रात इनकी है ऐसे ये बेहाल।।
छोटे चित अति भीरु बुद्धि मन चंचल बिगत उछाह।
उदर-भरन-रत, ईसबिमुख सब भए प्रजा नरनाह।।

इनसों कुछ आस नहिं ये तो सब विधि बुधि-बल हीन।
बिना एकता-बुद्धि-कला के भए सबहि बिधि दीन।।
बोझ लादि कै पैर छानि कै निज सुख करहु प्रहार।
ये रासभ से कुछ नहिं कहिहैं मानहु छमा अगार।।
हित अनहित पशु पक्षी जाना' पै ये जानहिं नाहिं।
भूले रहत आपुने रँग मैं फँसे मूढ़ता माहिं।।
जे न सुनहिं हित, भलो करहिं नहिं तिनसों आसा कौन।
डंका दै निज सैन साजि अब करहु उतै सब गौन।।
(जवनिका गिरती है)

पाँचवाँ अंक

स्थान-किताबखाना

(सात सभ्यों की एक छोटी सी कमेटी, सभापति चक्करदार टोपी पहने, चश्मा लगाए, छड़ी लिए, छः सभ्यों में एक बंगाली, एक महाराष्ट्र, एक अखबार हाथ में लिए एडिटर, एक कवि और दो देशी महाशय)

सभापति-(खड़े होकर) सभ्यगण! आज की कमेटी का मुख्य उदेश्य यह है कि भारतदुर्दैव की, सुना है कि हम लोगों पर चढ़ाई है। इस हेतु आप लोगों को उचित है कि मिलकर ऐसा उपाय सोचिए कि जिससे हम लोग इस भावी आपत्ति से बचें। जहाँ तक हो सके अपने देश की रक्षा करना ही हम लोगों का मुख्य धर्म है। आशा है कि आप सब लोग अपनी अपनी अनुमति प्रगट करेंगे। (बैठ गए, करतलध्वनि)

बंगाली-(खड़े होकर) सभापति साहब जो बात बोला सो बहुत ठीक है। इसका पेशतर कि भारतदुर्दैव हम लोगों का शिर पर आ पड़े कोई उसके परिहार का उपाय सोचना अत्यंत आवश्यक है, किंतु प्रश्न एई है जे हम लोग उसका दमन करने शाकता कि हमारा बोज्जोबल के बाहर का बात है। क्यों नहीं शाकता? अलबत्त शकैगा, परंतु जो सब लोग एक मत्त होगा। (करतलध्वनि) देखो हमारा बंगाल में इसका अनेक उपाय साधन होते हैं। ब्रिटिश इंडियन ऐसोशिएशन लीग इत्यादि अनेक शभा भ्री होते हैं। कोई थोड़ा बी बात होता हम लोग मिल के बड़ा गोल करते। गवर्नमेंट तो केवल गोलमाल शे भय खाता, और कोई तरह नहीं शोनता। ओ हुँआ आ अखबार वाला सब एक बार ऐसा शोर करता कि गवेर्नमेंट

को अलबत्ता शुनने होता। किंतु हेंयाँ, हम देखते हैं कोई कुछ नहीं बोलता। आज शब आप सभ्य लोग एकत्र हैं, कुछ उपाय इसका अवश्य सोचना चाहिए। (उपवेशन)।

प. देशी–(धीरे से) यहीं, मगर जब तक कमेटी में हैं तभी तक। बाहर निकले कि फिर कुछ नहीं।

दू. देशी–धीरे से, क्यों भाई साहबय इस कमेटी में आने से कमिश्नर हमारा नाम तो दरबार से खारिज न कर देंगे?

एडिटर–(खडे होकर) हम अपने प्राणपण से भारत दुर्दैव को हटाने को तैयार हैं। हमने पहिले भी इस विषय में एक बार अपने पत्र में लिखा था, परंतु यहां तो कोई सुनता ही नहीं। अब जब सिर पर आफत आई सो आप लोग उपाय सोचने लगे। भला अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है, जो कुछ सोचना हो जल्द सोचिए। (उपवेशन)

कवि–(खडे होकर) मुहम्मदशाह ने भाँड़ों ने दुश्मन को फौज से बचने का एक बहुत उत्तम उपाय कहा था। उन्होंने बतलाया कि नादिरशाह के मुकाबले में फौज न भेजी जाय। जमना किनारे कनात खड़ी कर दी जायँ, कुछ लोग चूड़ी पहने कनात के पीछे खड़े रहें। जब फौज इस पार उतरने लगें, कनात के बाहर हाथ निकालकर उँगली चमकाकर कहें ''मुए इधर न आइयो इधर जनाने हैं''। बस सब दुश्मन हट जायँगे। यही उपाय भारतदुर्दैव से बचने को क्यों न किया जाय।

बंगाली–(खड़े होकर) अलबत, यह भी एक उपाय है, किंतु असभ्यगण आकर जो स्त्री लोगों का विचार न करके सहसा कनात को आक्रमण करेगा तो? (उपवेशन)

एडि.–(खड़े होकर) हमने एक दूसरा उपाय सोचा है, एडूकेशन की एक सेना बनाई जाय। कमेटी की फौज। अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले मारे जायँ। आप लोग क्या कहते हैं? (उपवेशन)

दू. देशी–मगर जो हाकिम लोग इससे नाराज हों तो? (उपवेशन)

बंगाली–हाकिम लोग काहे को नाराज होगा। हम लोग शदा चाहता कि अँगरेजों का राज्य उत्पन्न न हो, हम लोग केवल अपना बचाव करता। (उपवेशन)

महा.–परंतु इसके पूर्व यह होना अवश्य है कि गुप्त रीति से यह बात जाननी कि हाकिम लोग भारतदुर्दैव की सैन्य से मिल तो नहीं जायँगे।

दू. देशी–इस बात पर बहस करना ठीक नहीं। नाहक कहीं लेने के देने न पड़ें, अपना काम देखिए (उपवेशन और आप ही आप) हाँ, नहीं तो अभी कल ही झाड़बाजी होय।

महा.–तो सार्वजनिक सभा का स्थापन करना। कपड़ा बीनने की कल मँगानी। हिदुस्तानी कपड़ा पहिनना। यह भी सब उपाय हैं।

दू. देशी–(धीरे से)–बनात छोड़कर गंजी पहिरेंगे, हें हें।

एडि.–परंतु अब समय थोड़ा है जल्दी उपाय सोचना चाहिए।

कवि–अच्छा तो एक उपाय यह सोचो कि सब हिंदू मात्र अपना फैशन छोड़कर कोट पतलून इत्यादि पहिरें, जिसमें सब दुर्दैव की फौज आवे तो हम लोगों को योरोपियन जानकर छोड़ दें।

प. देशी–पर रंग गोरा कहाँ से लावेंगे?

बंगाली–हमारा देश में भारत उद्धार नामक एक नाटक बना है। उसमें अँगरेजों को निकाल देने का जो उपाय लिखा, सोई हम लोग दुर्दैव का वास्ते काहे न अवलंबन करें। ओ लिखता पाँच जन बंगाली मिल के अँगरेजों को निकाल देगा। उसमें एक तो पिशान लेकर स्वेज का नहर पाट देगा। दूसरा बाँस काट काट के पवरी नामक जलयंत्र विशेष बनावेगा। तीसरा उस जलयंत्र से अंगरेजों की आँख में धूर और पानी डालेगा।

महा.–नहीं नहीं, इस व्यर्थ की बात से क्या होना है। ऐसा उपाय करना, जिससे फल सिद्धि हो।

प. देशी–(आप ही आप) हाय! यह कोई नहीं कहता कि सब लोग मिलकर एक चित हो विद्या की उन्नति करो, कला सीखो, जिससे वास्तविक कुछ उन्नति हो। क्रमशः सब कुछ हो जायेगा।

एडि.–आप लोग नाहक इतना सोच करते हैं, हम ऐसे ऐसे आर्टिकिल लिखेंगे कि उसके देखते ही दुर्दैव भागेगा।

कवि–और हम ऐसी ही ऐसी कविता करेंगे।

प. देशी–पर उनके पढ़ने का और समझने का अभी संस्कार किसको है?

(नेपथ्य में से)

भागना मत, अभी मैं आती हूँ।

(सब डरके चौकन्ने से होकर इधर उधर देखते हैं)

दू. देशी–(बहुत डरकर) बाबा रे, जब हम कमेटी में चले थे तब पहिले ही छींक हुई थी। अब क्या करें। (टेबुल के नीचे छिपने का उद्योग करता है)

(डिसलायलटी1 का प्रवेश)

सभापति–(आगे से ले आकर बड़े शिष्टाचार से) आप क्यों यहाँ तशरीफ लाई हैं? कुछ हम लोग सरकार के विरुद्ध किसी प्रकार की सम्मति करने को नहीं एकत्र हुए हैं। हम लोग अपने देश की भलाई करने को एकत्र हुए हैं।

डिसलायलटी: नहीं, नहीं, तुम सब सरकार के विरुद्ध एकत्र हुए हो, हम तुमको पकड़ेंगे।

बंगाली–(आगे बढ़कर क्रोध से) काहे को पकड़ेगा, कानून कोई वस्तु नहीं है। सरकार के विरुद्ध कौन बात हम लोग बाला? व्यर्थ का विभीषिका!

डिस.–हम क्या करें, गवर्नमेंट की पालिसी यही है। कवि वचन सुधा नामक पत्र में गवर्नमेंट के विरुद्ध कौन बात थी? फिर क्यों उसे पकड़ने को हम भेजे गए? हम लाचार हैं।

दू. देशी–(टेबुल के नीचे से रोकर) हम नहीं, हम नहीं, तमाशा देखने आए थे।

महा.–हाय हाय! यहाँ के लोग बड़े भीरु और कापुरुष हैं। इसमें भय की कौन बात है! कानूनी है।

सभा.–तो पकड़ने का आपको किस कानून से अधिकार है?

डिस.–इँगलिश पालिसी नामक ऐक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफा से।

महा.–परंतु तुम?

दू. देशी–(रोकर) हाय हाय! भटवा तुम कहता है अब मरे।

महा.–पकड़ नही सकतीं, हमको भी दो हाथ दो पैर है। चलो हम लोग तुम्हारे संग चलते हैं, सवाल जवाब करेंगे।

बंगाली–हाँ चलो, ओ का बात-पकड़ने नहीं शेकता।

सभा.–(स्वगत) चेयरमैन होने से पहिले हमीं को उत्तर देना पड़ेगा, इसी से किसी बात में हम अगुआ नहीं होते।

डिस–अच्छा चलो। (सब चलने की चेष्टा करते हैं)

(जवनिका गिरती है)

छठा अंक

स्थान-गंभीर वन का मध्यभाग

(भारत एक वृक्ष के नीचे अचेत पड़ा है)

(भारतभाग्य का प्रवेश)

भारतभाग्य–(गाता हुआ-राग चौती गौरी)

जागो जागो रे भाई।
सोअत निसि बैस गँवाई। जागों जागो रे भाई।।
निसि की कौन कहै दिन बीत्यो काल राति चलि आई।
देखि परत नहि हित अनहित कछु परे बैरि बस जाई।।
निज उद्धार पंथ नहिं सूझत सीस धुनत पछिताई।
अबहुँ चेति, पकारि राखो किन जो कुछ बची बड़ाई।।
फिर पछिताए कुछ नहिं ह्वै है रहि जैहौ मुँह बाई।
जागो जागो रे भाई।।

(भारत को जगाता है और भारत जब नहीं जागता तब अनेक यत्न से फिर जगाता है, अंत में हारकर उदास होकर)

हाय! भारत को आज क्या हो गया है? क्या नि:स्संदेह परमेश्वर इससे ऐसा ही रूठा है? हाय क्या अब भारत के फिर वे दिन न आवेंगे? हाय यह वही भारत है, जो किसी समय सारी पृथ्वी का शिरोमणि गिना जाता था?

भारत के भुजबल जग रक्षित।
भारतविद्या लहि जग सिच्छित।।
भारततेज जगत बिस्तारा।
भारतभय कंपत संसारा।।
जाके तनिकहिं भौंह हिलाए।
थर थर कंपत नृप डरपाए।।
जाके जयकी उज्ज्वल गाथा।
गावत सब महि मंगल साथा।।
भारतकिरिन जगत उँजियारा।
भारतजीव जिअत संसारा।।
भारतवेद कथा इतिहासा।
भारत वेदप्रथा परकासा।।
फिनिक मिसिर सीरीय युनाना।
भे पंडित लहि भारत दाना।।
रह्यौ रुधिर जब आरज सीसा।
ज्वलित अनल समान अवनीसा।।
साहस बल इन सम कोउ नाहीं।

तबै रह्यौ महिमंडल माहीं।।
कहा करी तकसीर तिहारी।
रे बिधि रुष्ट याहि की बारी।।
सबै सुखी जग के नर नारी।
रे विधना भारत हि दुखारी।।
हाय रोम तू अति बड़भागी।
बर्बर तोहि नास्यों जय लागी।।
तोड़े कीरतिथंभ अनेकन।
ढाहे गढ़ बहु करि प्रण टेकन।।
मंदिर महलनि तोरि गिराए।
सबै चिन्ह तुव धूरि मिलाए।।
कछु न बची तुब भूमि निसानी।
सो बरु मेरे मन अति मानी।।
भारत भाग न जात निहारे।
थाप्यो पग ता सीस उधारे।।
तोर्‌यो दुर्गन महल ढहायो।
तिनहीं में निज गेह बनायो।।
ते कलंक सब भारत केरे।
ठाढ़े अजहुँ लखो घनेरे।।
काशी प्राग अयोध्या नगरी।
दीन रूप सम ठाढी सगरी।।
चंडालहु जेहि निरखि घिनाई।
रही सबै भुव मुँह मसि लाई।।
हाय पंचनद हा पानीपत।
अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत।।
हाय चितौर निलज तू भारी।
अजहुँ खरो भारतहि मंझारी।।
जा दिन तुब अधिकार नसायो।
सो दिन क्यों नहिं धरनि समायो।।
रह्यो कलंक न भारत नामा।
क्यों रे तू बारानसि धामा।।

सब तजि कै भजि कै दुखभारो।
अजहुँ बसत करि भुव मुख कारो।।
अरे अग्रवन तीरथ राजा।
तुमहुँ बचे अबलौं तजि लाजा।।
पापिनि सरजू नाम धराई।
अजहुँ बहत अवधतट जाई।।
तुम में जल नहिं जमुना गंगा।
बढ़हु वेग करि तरल तरंगा।।
धोवहु यह कलंक की रासी।
बोरहु किन झट मथुरा कासी।।
कुस कन्नौज अंग अरु वंगहि।
बोरहु किन निज कठिन तरंगहि।।
बोरहु भारत भूमि सबेरे।
मिटै करक जिय की तब मेरे।।
अहो भयानक भ्राता सागर।
तुम तरंगनिधि अतिबल आगर।।
बोरे बहु गिरी बन अस्थान।
पै बिसरे भारत हित जाना।।
बढ़हु न बेगि धाई क्यों भाई।
देहु भारत भुव तुरत डुबाई।।
घेरि छिपावहु विंध्य हिमालय।
करहु सफल भीतर तुम लय।।
धोवहु भारत अपजस पंका।
मेटहु भारतभूमि कलंका।।
हाय! यहीं के लोग किसी काल में जगन्मान्य थे।
जेहि छिन बलभारे हे सबै तेग धारे।
तब सब जग धाई फेरते हे दुहाई।।
जग सिर पग धारे धावते रोस भारे।
बिपुल अवनि जीती पालते राजनीती।।
जग इन बल काँपै देखिकै चंड दापै।
सोइ यह पिय मेरे ह्वै रहे आज चेरे।।

ये कृष्ण बरन जब मधुर तान।
करते अमृतोपम वेद गान।।
सब मोहन सब नर नारि वृंद।
सुनि मधुर वरन सज्जित सुछंद।।
जग के सबही जन धारि स्वाद।
सुनते इन्हीं को बीन नाद।।
इनके गुन होतो सबहि चौन।
इनहीं कुल नारद तानसैन।।
इनहीं के क्रोध किए प्रकास।
सब काँपत भूमंडल अकास।।
इन्हीं के हुंकृति शब्द घोर।
गिरि काँपत हे सुनि चारु ओर।।
जब लेत रहे कर में कृपान।
इनहीं कहँ हो जग तृन समान।।
सुनि के रनबाजन खेत माहिं।
इनहीं कहँ हो जिय सक नाहिं।।
याही भुव महँ होत है हीरक आम कपास।
इतही हिमगिरि गंगाजल काव्य गीत परकास।।
जाबाली जैमिनि गरग पातंजलि सुकदेव।
रहे भारतहि अंक में कबहि सबै भुवदेव।।
याही भारत मध्य में रहे कृष्ण मुनि व्यास।
जिनके भारतगान सों भारतबदन प्रकास।।
याही भारत में रहे कपिल सूत दुरवास।
याही भारत में भए शाक्य सिंह संन्यास।।
याही भारत में भए मनु भृगु आदिक होय।
तब तिनसी जग में रह्यो घृना करत नहि कोय।।
जास काव्य सों जगत मधि अब ल ऊँचो सीस।
जासु राज बल धर्म की तृषा करहिं अवनीस।।
साई व्यास अरु राम के बंस सबै संतान।
ये मेरे भारत भरे सोई गुन रूप समान।।
सोइ बंस रुधिर वही सोई मन बिस्वास।

वही वासना चित वही आसय वही विलास।।
कोटि कोटि ऋषि पुन्य तन कोटि कोटि अति सूर।
कोटि कोटि बुध मधुर कवि मिले यहाँ की धूर।।
सोई भारत की आज यह भई दुरदसा हाय।
कहा करे कित जायँ नहिं सूझत कछु उपाय।।

(भारत को फिर उठाने की अनेक चेष्टा करके उपाय निष्फल होने पर रोकर)

हा! भारतवर्ष को ऐसी मोहनिद्रा ने घेरा है कि अब इसके उठने की आशा नहीं। सच है, जो जान बूझकर सोता है, उसे कौन जगा सकेगा? हा दैव! तेरे विचित्र चरित्र हैं, जो कल राज करता था, वह आज जूते में टाँका उधार लगवाता है। कल जो हाथी पर सवार फिरते थे आज नंगे पाँव बन बन की धूल उड़ाते फिरते हैं। कल जिनके घर लड़के लड़कियों के कोलाहल से कान नहीं दिया जाता था, आज उसका नाम लेवा और पानी देवा कोई नहीं बचा और कल जो घर अन्न धन पूत लक्ष्मी हर तरह से भरे थे, आज उन घरों में तूने दिया बोलने वाला भी नहीं छोड़ा।

हा! जिस भारतवर्ष का सिर व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, पाणिनि, शाक्यसिंह, बाणभट्ट, प्रभृति कवियों के नाममात्र से अब भी सारे संसार में ऊँचा है, उस भारत की यह दुर्दशा! जिस भारतवर्ष के राजा चंद्रगुप्त और अशोक का शासन रूम रूस तक माना जाता था, उस भारत की यह दुर्दशा! जिस भारत में राम, युधिष्ठर, नल, हरिश्चंद्र, रंतिदेव, शिवि इत्यादि पवित्र चरित्र के लोग हो गए हैं, उसकी यह दशा! हाय, भारत भैया, उठो! देखो विद्या का सूर्य पश्चिम से उदय हुआ चला आता है। अब सोने का समय नहीं है। अँगरेज का राज्य पाकर भी न जगे तो कब जागोगे। मूर्खों के प्रचंड शासन के दिन गए, अब राजा ने प्रजा का स्वत्व पहिचाना। विद्या की चरचा फैल चली, सबको सब कुछ कहने सुनने का अधिकार मिला, देश विदेश से नई विद्या और कारीगरी आई। तुमको उस पर भी वही सीधी बातें, भाँग के गोले, ग्रामगीत, वही बाल्यविवाह, भूत-प्रेत की पूजा जन्मपत्री की विधि! वही थोड़े में संतोष, गप हाँकने में प्रीती और सत्यानाशी चालें! हाय अब भी भारत की यह दुर्दशा! अरे अब क्या चिता पर सम्हलेगा। भारत भाई! उठो, देखो अब दुःख नहीं सहा जाता, अरे कब तक बेसुध रहोगे? उठो, देखो, तुम्हारी संतानों का नाश हो गया। छिन्न-छिन्न होकर सब नरक की यातना भोगते हैं, उस पर भी नहीं चेतते। हाय! मुझसे तो अब यह दशा नहीं देखी जाती।

प्यारे जागो। (जगाकर और नाड़ी देखकर) हाय इसे तो बड़ा ही ज्वर चढ़ा है! किसी तरह होश में नहीं आता। हा भारत! तेरी क्या दशा हो गई! हे करुणासागर भगवान् इधर भी दृष्टि कर। हे भगवती राज-राजेश्वरी, इसका हाथ पकड़ो। (रोकर) अरे कोई नहीं जो इस समय अवलंब दे। हा! अब मैं जी के क्या करूँगा! जब भारत ऐसा मेरा मित्र इस दुर्दशा में पड़ा है और उसका उद्धार नहीं कर सकता, तो मेरे जीने पर धिक्कार है! जिस भारत का मेरे साथ अब तक इतना संबध था, उसकी ऐसी दशा देखकर भी मैं जीता रहूँ तो बड़ा कृतघ्न हूँ! (रोता है) हा विधाता, तुझे यही करना था! (आतंक से) छिः छिः इतना क्लैव्य क्यों? इस समय यह अधीरजपना! बस, अब धैर्य! (कमर से कटार निकालकर) भाई भारत! मैं तुम्हारे ऋण से छूटता हूँ! मुझसे वीरों का कर्म नहीं हो सकता। इसी से कातर की भाँति प्राण देकर उऋण होता हूँ। (ऊपर हाथ उठाकर) हे सर्व्वांतर्यामी! हे परमेश्वर! जन्म-जन्म मुझे भारत सा भाई मिलै। जन्म जन्म गंगा जमुना के किनारे मेरा निवास हो।

(भारत का मुँह चूमकर और गले लगाकर)

भैया, मिल लो, अब मैं बिदा होता हूँ। भैया, हाथ क्यों नहीं उठाते? मैं ऐसा बुरा हो गया कि जन्म भर के वास्ते मैं बिदा होता हूँ, तब भी ललककर मुझसे नहीं मिलते। मैं ऐसा ही अभागा हूँ तो ऐसे अभागे जीवन ही से क्याय बस यह लो।

5

ध्रुवस्वामिनी

(शिविर का पिछला भाग, जिसके पीछे पर्वतमाला की प्राचीर है, शिविर का एक कोना दिखलाई दे रहा है, जिससे सटा हुआ चन्द्रातप टँगा है। मोटी-मोटी रेशमी डोरियों से सुनहले काम के परदे खम्भों से बँधे हैं। दो-तीन सुन्दर मंच रखे हुए हैं। चन्द्रातप और पहाड़ी के बीच छोटा-सा कुंज, पहाड़ी पर से एक पतली जलधारा उस हरियाली में बहती है। झरने के पास शिलाओं से चिपकी हुई लता की डालियाँ पवन में हिल रही हैं। दो चार छोटे-बड़े वृक्ष, जिन पर फूलों से लदी हुई सेवती की लता छोटा-सा झुरमुट बना रही है।

शिविर के कोने से ध्रुवस्वामिनी का प्रवेश। पीछे-पीछे एक लम्बी और कुरूप स्त्री चुपचाप नंगी तलवार लिए आती है)

ध्रुवस्वामिनी–(सामने पर्वत की ओर देखकर) सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर! और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं और पौधों को इसके चरण में लोटना ही चाहिए न। (साथ वाली खड्गधारिणी की ओर देखकर) क्यों, मन्दाकिनी नहीं आई (वह उत्तर नहीं देती है) बोलती क्यों नहीं यह तो मैं जानती हूँ कि इस राजकुल के अन्तःपुर में मेरे लिए न जाने कब से नीरव अपमान संचित रहा, जो मुझे आते ही मिला, किन्तु क्या तुम-जैसी दासियों से भी वही मिलेगा इसी शैलमाला की तरह मौन रहने का अभिनय तुम न करो, बोलो! (वह दाँत निकालकर विनय प्रकट करती हुई कुछ और आगे बढ़ने का संकेत करती है) अरे, यह क्या, मेरे भाग्य विधाता!

यह कैसा इन्द्रजाल? उस दिन राजमहापुरोहित ने कुछ आहुतियों के बाद मुझे आशीर्वाद दिया था, क्या वह अभिशाप था? इस राजकीय अन्तःपुर में सब जैसे–एक रहस्य छिपाये हुए चलते हैं, बोलते हैं और मौन हो जाते हैं। (खड्गधारिणी विवशता और भय का अभिनय करती हुई आगे बढ़ने का संकेत करती है) तो क्या तुम मूक हो? तुम कुछ बोल न सको, मेरी बातों का उत्तर भी न दो, इसीलिए तुम मेरी सेवा में नियुक्त की गई हो? यह असह्य है। इस राजकुल में एक भी सम्पूर्ण मनुष्यता का निदर्शन नहीं मिलेगा, क्या जिधर देखो कुबड़े, बौने, हिजड़े, गूँगे और बहरे। (चिढ़ती हुई ध्रुवस्वामिनी आगे बढ़कर झरने के किनारे बैठ जाती है, खड्गधारिणी भी इधर-उधर देखकर ध्रुवस्वामिनी के पैरों के समीप बैठती है।)

खड्गधारिणी–(सशंक चारों ओर देखती हुई) देवि, प्रत्येक स्थान और समय बोलने के योग्य नहीं होते। कभी-कभी मौन रह जाना बुरी बात नहीं है। मुझे अपनी दासी समझिए। अवरोध के भीतर मैं गूँगी हूँ। यहाँ संदिग्ध न रहने के लिए मुझे ऐसा ही करना पड़ता है।

ध्रुवस्वामिनी–अरे, तो क्या तुम बोलती भी हो पर यह तो कहो, यह कपट आचरण किसलिए?

खड्गधारिणी–एक पीड़ित की प्रार्थना सुनाने के लिए। कुमार चन्द्रगुप्त को आप भूल न गई होंगी!

ध्रुवस्वामिनी–(उत्कण्ठा से) वही न, जो मुझे वंदिनी बनाने के लिए गए थे।

खड्गधारिणी–(दाँतों से जीभ दबाकर) यह आप क्या कह रही हैं? उनको तो स्वयं अपने भीषण भविष्य का पता नहीं। प्रत्येक क्षण उनके प्राणों पर सन्देह करता है। उन्होंने पूछा है कि मेरा क्या अपराध है?

ध्रुवस्वामिनी–(उदासी की मुस्कराहट के साथ) अपराध मैं क्या बताऊँ? तो क्या कुमार भी वन्दी हैं?

खड्गधारिणी–कुछ-कुछ वैसा ही है देवि, राजाधिराज से कहकर क्या आप उनका कुछ उपकार कर सकेंगी?

ध्रुवस्वामिनी–भला मैं क्या कर सकूँगी? मैं तो अपने ही प्राणों का मूल्य नहीं समझ पाती। मुझ पर राजा का कितना अनुग्रह है, यह भी मैं आज तक न जान सकी। मैंने तो कभी उनका सम्भाषण सुना ही नहीं। विलासिनियों के साथ मदिरा में उन्मत्त, उन्हें अपने आनन्द से अवकाश कहाँ!

खड्गधारिणी—तब तो अदृष्ट ही कुमार के जीवन का सहायक होगा। उन्होंने पिता का दिया हुआ स्वत्व और राज्य का अधिकार तो छोड़ ही दिया, इसके साथ अपनी एक अमूल्य निधि भी । (कहते-कहते सहसा रुक जाती है।)

ध्रुवस्वामिनी—अपनी अमूल्य निधि! वह क्या?

खड्गधारिणी—यह अत्यन्त गुप्त है देवि, किन्तु मैं प्राणों की भीख माँगते हुए कह सकूँगी।

ध्रुवस्वामिनी—(कुछ सोचकर) तो जाने दो, छिपी हुई बातों से मैं घबरा उठी हूँ। हाँ, मैंने उन्हें देखा था, वह निरभ्र प्राची का बाल अरुण! आह! राज-चक्र सबको पीसता है, पिसने दो, हम निःसहायों को और दुर्बलों को पिसने दो!

खड्गधारिणी—देवि, वह वल्लरी जो झरने के समीप पहाड़ी पर चढ़ गई है, उसकी नन्हीं-नन्हीं पत्तियों को ध्यान से देखने पर आप समझ जायेंगी कि वह किस जाति की है। प्राणों की क्षमता बढ़ा लेने पर वही काई, जो बिछलन बंनकर गिरा सकती थी, अब दूसरों के ऊपर चढ़ने का अवलम्बन बन गई है।

ध्रुवस्वामिनी—(आकाश की ओर देखकर) वह बहुत दूर की बात है। आह, कितनी कठोरता है! मनुष्य के हृदय में देवता को हटाकर राक्षस कहाँ से घुस आता है? कुमार की स्निग्ध, सरल और सुन्दर मूर्ति को देखकर कोई भी प्रेम से पुलकित हो सकता है, किन्तु उन्हीं का भाई? आश्चर्य!

खड्गधारिणी—कुमार को इतने में ही सन्तोष होगा कि उन्हें कोई विश्वासपूर्वक स्मरण कर लेता है। रही अभ्युदय की बात, सो तो उनको अपने बाहुबल और भाग्य पर ही विश्वास है।

ध्रुवस्वामिनी—किन्तु उन्हें कोई ऐसा साहस का काम न करना चाहिए, जिसमें उनकी परिस्थिति और भी भयानक हो जाए।

(खड्गधारिणी खड़ी होती है)

अच्छा, तो अब तू जा और अपने मौन संकेत से किसी दासी को यहाँ भेज दे, मैं अभी यहाँ बैठना चाहती हूँ।

(खड्गधारिणी नमस्कार करके जाती है और एक दासी का प्रवेश)

दासी—(हाथ जोड़कर) देवी, सांयकाल हो चुका है। वनस्पतियाँ शिथिल होने लगी हैं। देखिए न, व्योम-विहारी पक्षियों का झुण्ड भी अपने नीड़ों में प्रसन्न कोलाहल से लौट रहा है। क्या भीतर चलने की अभी इच्छा नहीं है?

ध्रुवस्वामिनी—चलूँगी क्यों नहीं? किन्तु मेरा नीड़ कहाँ? यह तो स्वर्णपिंजर है।

(करुण भाव से उठकर दासी के कंधे पर हाथ रखकर चलने को उद्यत होती है। नेपथ्य में कोलाहल - महादेवी कहाँ हैं? उन्हें कौन बुलाने गई है?)

ध्रुवस्वामिनी—हैं-हैं, यह उतावली कैसी?

प्रतिहारी—(प्रवेश करके घबराहट से) भट्टारक इधर आये हैं क्या?

ध्रुवस्वामिनी—(व्यंग्य से मुस्कराते हुए) मेरे अंचल में तो छिपे नहीं हैं। देखो, किसी कुंज में ढूँढ़ो।

प्रतिहारी—(संभ्रम से) अरे महादेवी! क्षमा कीजिए। युद्ध-सम्बन्धी एक आवश्यक संवाद देने के लिए महाराज को खोजती हुई मैं इधर आ गयी हूँ।

ध्रुवस्वामिनी—होंगे कहीं, यहाँ तो नहीं है।

(उदास भाव से दासी के साथ ध्रुवस्वामिनी का प्रस्थान। दूसरी ओर से खड्गधारिणी का पुनः प्रवेश और कुंज में से अपना उत्तरीय सँभालता रामगुप्त निकलकर एक बार प्रतिहारी की ओर, फिर खड्गधारिणी की ओर देखता है)

प्रतिहारी—जय हो देव! एक चिन्ताजनक समाचार निवेदन करने के लिए अमात्य ने मुझे भेजा है।

रामगुप्त—(झुँझलाकर) चिन्ता करते-करते देखता हूँ कि मुझे मर जाना पड़ेगा। ठहरो, (खड्गधारिणी से) हाँ जी, तुमने अपना काम तो अच्छा किया, किन्तु मैं समझ न सका कि चन्द्रगुप्त को वह अब भी प्यार करती है या नहीं?

(खड्गधारिणी प्रतिहारी की ओर देखकर चुप रह जाती है)

रामगुप्त—(प्रतिहारी की ओर क्रोध से देखता हुआ) तुमसे मैंने कह दिया न कि अभी मुझे अवकाश नहीं, ठहर कर आना।

प्रतिहारी—राजाधिराज! शकों ने किसी पहाड़ी राह से उतरकर नीचे का गिरि-पथ रोक लिया है। हम लोगों के शिविर का सम्बन्ध राजपथ से छूट गया है। शकों ने दोनों ही ओर से घेर लिया है।

रामगुप्त—दोनों ओर से घिरा रहने में शिविर और भी सुरक्षित है। मूर्ख! चुप रह (खड्गधारिणी से) तो ध्रुवदेवी, क्या मन-ही-मन चन्द्रगुप्त को है न मेरा सन्देह ठीक?

प्रतिहारी—(हाथ जोड़कर) अपराध क्षमा हो देव! अमात्य युद्ध परिषद् में आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

रामगुप्त—(हृदय पर हाथ रखकर) युद्ध तो यहाँ भी चल रहा है। देखती नहीं, जगत की अनुपम सुन्दरी मुझसे स्नेह नहीं करती और मैं हूँ इस देश का राजाधिराज!

प्रतिहारी–महाराज, शकराज का संदेश लेकर एक दूत भी आया है।

रामगुप्त–आह! किन्तु ध्रुवदेवी! उसके मन में टीस है (कुछ सोचकर) जो स्त्री दूसरे के शासन में रहकर और प्रेम किसी अन्य पुरुष से करती है, उसमें एक गम्भीर और व्यापक रस उद्वेलित रहता होगा। वही तो नहीं, जो चन्द्रगुप्त से प्रेम करेगी वह स्त्री न जाने कब चोट कर बैठे? भीतर-भीतर न जाने कितने कुचक्र घूमने लगेंगे। (खड्गधारिणी से) सुना न, ध्रुवदेवी से कह देना चाहिए कि वह मुझे और मुझसे ही प्यार करे। केवल महादेवी बन जाना ठीक नहीं।

(खड्गधारिणी का प्रतिहारी के साथ प्रस्थान और शिखरस्वामी का प्रवेश)

शिखरस्वामी–कुछ आवश्यक बातें कहनी हैं, देव।

रामगुप्त–(चिन्ता से उँगली हिलाते हुए, जैसे–अपने आप बातें कर रहा हो) ध्रुवदेवी को लेकर क्या साम्राज्य से भी हाथ धोना पड़ेगा! नहीं, तो फिर (कुछ सोचने लगता है) ठीक, तो सहसा मेरे राजदण्ड ग्रहण कर लेने से पुरोहित, अमात्य और सेनापति लोग छिपा हुआ विद्रोह भाव रखते हैं। (शिखर से) है न! केवल एक तुम्हीं मेरे विश्वासपात्र हो। समझा न! यही गिरि-पथ सब झगड़ों का अन्तिम निर्णय करेगा। क्यों अमात्य, जिसकी भुजाओं में बल न हो, उसके मस्तिष्क में तो कुछ होना चाहिए?

शिखरस्वामी–(एक पत्र लेकर) पहले इसे पढ़ लीजिए! (रामगुप्त पत्र पढ़ते-पढ़ते आश्चर्य से चौंक उठता है)। चौंकिए मत, यह घटना इतनी आकस्मिक है कि कुछ सोचने का अवसर नहीं मिलता।

रामगुप्त–(ठहरकर) है तो ऐसा ही, किन्तु एक बार ही मेरे प्रतिकूल भी नहीं। मुझे इसकी सम्भावना पहले से भी थी।

शिखरस्वामी–(आश्चर्य से) ऐं? तब तो महाराज ने अवश्य ही कुछ सोच लिया होगा। मेघ-संकुल आकाश की तरह जिसका भविष्य घिरा हो, उसकी बुद्धि को तो बिजली के समान चमकना ही चाहिए।

रामगुप्त–(संशक) कह दूँ! सोचा तो है मैंने, परन्तु क्या तुम उसका समर्थन करोगे?

शिखरस्वामी–यदि नीति-युक्त हुआ तो अवश्य समर्थन करूँगा। सबके विरुद्ध रहने पर भी स्वर्गीय आर्य समुद्रगुप्त की आज्ञा के प्रतिकूल मैंने ही आपका समर्थन किया था। नीति-सिद्धान्त के आधार पर ज्येष्ठ राजपुत्र को ।

रामगुप्त–(बात काटकर) वह तो मैं जानता हूँ, किन्तु इस समय जो प्रश्न सामने आ गया है, उस पर विचार करना चाहिए। यह तुम जानते हो कि मेरी इस

विजय-यात्र का कोई गुप्त उद्देश्य है। उसकी सफलता भी सामने दिखाई पड़ रही है। हाँ, थोड़ा-सा साहस चाहिए।

शिखरस्वामी—वह क्या?

रामगुप्त—शक-दूत सन्धि के लिए, जो प्रमाण चाहता हो, उसे अस्वीकार न करना चाहिए। ऐसा करने में इस संकट के बहाने जितनी विरोधी प्रकृति है, उस सबको हम लोग सहज ही हटा सकेंगे।

शिखरस्वामी—भविष्य के लिए यह चाहे अच्छा हो, किन्तु इस समय तो हमको बहुत-से विघ्नों का सामना करना पड़ेगा।

रामगुप्त—(हँसकर) तुम तुम्हारी बुद्धि कब काम में आवेगी और हाँ, चन्द्रगुप्त के मनोभाव का कुछ पता लगा?

शिखरस्वामी—कोई नई बात तो नहीं।

रामगुप्त—मैं देखता हूँ कि मुझे पहले अपने अन्तःपुर के ही विद्रोह का दमन करना होगा। (निःश्वास लेकर) ध्रुवदेवी के हृदय में चन्द्रगुप्त की आकांक्षा धीरे-धीरे जाग रही है।

शिखरस्वामी—यह असम्भव नहीं, किन्तु महाराज! इस समय आपको दूत से साक्षात् करके उपस्थित राजनीति पर ध्यान देना चाहिए। यह एक विचित्र बात है कि प्रबल पक्ष सन्धि के लिए सन्देश भेजे।

रामगुप्त—विचित्र हो चाहे सचित्र अमात्य, तुम्हारी राजनीतिज्ञता इसी में है, भीतर और बाहर के सब शत्रु एक ही चाल में परास्त हों। तो चलो!

(दोनों का प्रस्थान। मन्दाकिनी का सशंक भाव से प्रवेश)

मन्दाकिनी—(चारों ओर देखकर) भयानक समस्या है। मूर्खों ने स्वार्थ के लिए साम्राज्य के गौरव का सर्वनाश करने का निश्चय कर लिया है। सच है, वीरता जब भागती है, तब उसके पैरों से राजनीतिक छल छन्द की धूल उड़ती है। (कुछ सोचकर) कुमार चन्द्रगुप्त को यह सब समाचार शीघ्र ही मिलना चाहिए। गूँगी के अभिनय में महादेवी के हृदय का आवरण तनिक-सा हटा है, किन्तु वह थोड़ा-सा स्निग्ध भाव भी कुमार के लिए कम महत्त्व नहीं रखता। कुमार चन्द्रगुप्त! कितना समर्पण का भाव है, उसमें और उसका बड़ा भाई रामगुप्त! कपटाचारी रामगुप्त। जी करता है, इस कुलषित वातावरण से कहीं दूर, विस्मृत में अपने को छिपा लूँ, पर मन्दा! तुझे विधाता ने क्यों बनाया (सोचने लगती है) नहीं, मुझे हृदय कठोर करके अपना कर्त्तव्य करने के लिए यहाँ रुकना होगा। न्याय का दुर्बल पक्ष ग्रहण करना होगा।

(गाती है)

यह कसक अरे आँसू सह जा।
बनकर विनम्र अभिमान मुझे
मेरा अस्तित्व बता, रह जा।
बन प्रेम छलक कोने-कोने
अपनी नीरव गाथा कह जा
करुणा बन दुखिया वसुधा पर
शीतलता फैलाता बह जा।

(जाती है। ध्रुवस्वामिनी का उदास भाव से धीरे-धीरे प्रवेश। पीछे एक परिचारिका पान का डिब्बा और दूसरी चमर लिये आती है। ध्रुवस्वामिनी एक मेज पर बैठकर अक्षरों पर उँगली रखकर कुछ सोचने लगती है और चमरशधरिणी चमर चलाने लगती है।)

ध्रुवस्वामिनी–(दूसरी परिचारिका से) हाँ, क्या कहा, शिखरस्वामी कुछ कहना चाहते हैं? कह दो, कल सुनूँगी, आज नहीं।

परिचारिका–जैसी आज्ञा तो मैं कह आऊँ कि अमात्य से कल महादेवी बातें करेंगी?

ध्रुवस्वामिनी–(कुछ सोचकर) ठहरो तो, वह गुप्त साम्राज्य का अमात्य है, उससे आज ही भेंट करना होगा। हाँ, यह तो बताओ, तुम्हारे राजकुल में नियम क्या है? पहले अमात्य की मंत्रणा सुननी पड़ती है, तब राजा से भेंट होती है?

परिचारिका–(दाँतों से जीभ दबाकर) ऐसा नियम तो मैंने नहीं सुना। यह युद्ध-शिविर है न! परम भट्टारक को अवसर न मिला होगा। महादेवी! आपको सन्देह न करना चाहिए।

ध्रुवस्वामिनी–मैं महादेवी ही हूँ न? यदि यह सत्य है तो क्या तुम मेरी आज्ञा से कुमार चन्द्रगुप्त को यहाँ बुला सकती हो? मैं चाहती हूँ कि अमात्य के साथ ही कुमार से भी कुछ बातें कर लूँ।

परिचारिका–क्षमा कीजिए, इसके लिए तो पहले अमात्य से पूछना होगा।

(ध्रुवस्वामिनी क्रोध से उसकी ओर देखने लगती है और वह पान का डिब्बा रखकर चली जाती है। एक बौने का कुबड़े और हिजड़े के साथ प्रवेश)

कुबड़ा–युद्ध! भयानक युद्ध!!

बौना–हो रहा है, कि कहीं होगा मित्र!

हिजड़ा–बहनो, यहीं युद्ध करके दिखाओ न! महादेवी भी देख लें।

बौना–(कुबड़े से) सुनता है रे! तू अपना हिमाचल इधर कर दे – मैं दिग्विजय करने के लिए कुबेर पर चढ़ाई करूँगा।

(उसकी कूबड़ को दबाता है और कुबड़ा अपने घुटनों और हाथों के बल बैठ जाता है। हिजड़ा कुबड़े की पीठ पर बैठता है। बौना एक मोर्छल लेकर तलवार की तरह उसे घुमाने लगता है।)

हिजड़ा–अरे! यह तो मैं हूँ नल-कूबर की वध! दिग्विजयी वीर, क्या तुम स्त्री से युद्ध करोगे? लौट जाओ, कल आना। मेरे 'वसुर और आर्यपुत्र दोनों ही उर्वशी और रम्भा के अभिसार से अभी नहीं आए। कुछ आज ही तो युद्ध करने का शुभ मुहूर्त नहीं है।

बौना–(मोर्छल से पटा घुमाता हुआ) नहीं, आज ही युद्ध होगा। तुम स्त्री नहीं हो, तुम्हारी उँगलियाँ तो मेरी तलवार से अधिक चल रही है। कूबड़ तुम्हारे नीचे है, तब मैं कैसे मान लूँ कि तुम न तो नल-कूबड़ हो और न कुबेर! तुम्हारे वस्त्रों से मैं धोखा न खाऊँगा। तुम पुरुष हो, युद्ध करो।

हिजड़ा–(उसी तरह मटकते हुए) अरे, मैं स्त्री हूँ। बहनो, कोई मुझसे ब्याह भले कर सकता है, लड़ाई मैं क्या जानूँ?

(दासी के साथ शिखरस्वामी का प्रवेश)

शिखर-स्वामी–महादेवी की जय हो!

(दूसरी ओर से युवती दासी के कन्धे का सहारा लिए कुछ-कुछ मदिरा के नशे में रामगुप्त का प्रवेश। मुस्कराता हुआ बौने का खेल देखने लगता है। ध्रुवस्वामिनी उठकर खड़ी हो जाती है और शिखरस्वामी रामगुप्त को संकेत करता है।)

रामगुप्त–(कुछ भर्राये हुए कण्ठ से) महादेवी की जय हो।

ध्रुवस्वामिनी–स्वागत महाराज!

रामगुप्त एक मंच पर बैठ जाता है और शिखरस्वामी ध्रुवस्वामिनी के इस उदासीन शिष्टाचार से चकित होकर सिर खुजलाने लगता है)

कुबड़ा–दोहाई राजाधिराज की! हिमाचल का कूबड़ दुखने लगा, न तो यह नल-कूबड़ की बहू मेरे कूबड़ से उठती है और न तो यह बौना मुझे विजय ही कर लेता है।

रामगुप्त–(हँसते हुए) वाह रे वामन वीर! यहाँ दिग्विजय का नाटक खेला जा रहा था क्या?

बौना–(अकड़कर) वामन के बलि-विजय की गाथा और तीन पगों की महिमा सब लोग जानते हैं। मैं तीन लात में इसका कूबड़ सीधा कर सकता हूँ।

कुबड़ा–लगा दे भाई बौने। फिर यह अचल हेमकूट बनना तो छूट जाय!

हिजड़ा–देखो जी, मैं नल-कूबर की वधू इस पर बैठी हूँ।

बौना–झूठ! युद्ध के डर से पुरुष होकर भी यह स्त्री बन गया है।

हिजड़ा–मैं तो पहले ही कह चुकी कि मैं युद्ध करना नहीं जानती।

बौना–तुम नल-कूबर की स्त्री हो न, तो अपनी विजय का उपहार समझकर मैं तुम्हारा हरण कर लूँगा। (और लोगों की ओर देखकर उसका हाथ पकड़ कर खींचता हुआ) ठीक होगा न? कदाचित् यह धर्म के विरुद्ध न होगा!

(रामगुप्त ठठाकर हँसने लगता है)

ध्रुवस्वामिनी–(क्रोध से अकड़कर) निकालो! अभी निकालो, यहाँ ऐसी निर्लज्जता का नाटक मैं नहीं देखना चाहती। (शिखरस्वामी की ओर भी सक्रोध देखती है, शिखर के संकेत करने पर वे भाग जाते हैं।)

रामगुप्त–अरे, ओ दिग्विजयी! सुन तो (उठकर ताली पीटता हुआ हँसने लगता है। ध्रुवस्वामिनी क्षोभ और घृणा से मुँह फिरा लेती है। शिखरस्वामी के संकेत से दासी मदिरा का पात्र ले आती है, उसे देखकर प्रसन्नता से आँखें फाड़कर शिखर की ओर अपना हाथ बढ़ा देता है) अमात्य, आज ही महादेवी के पास मैं आया और आप भी पहुँच गये, यह एक विलक्षण घटना है। है न (पात्र लेकर पीता है)

शिखरस्वामी–देव, मैं इस समय एक आवश्यक कार्य से आया हूँ।

रामगुप्त–ओह! मैं तो भूल ही गया था! वह बर्बर शकराज क्या चाहता है? मैं आक्रमण न करू, इतना ही तो? जाने दो, युद्ध कोई अच्छी बात तो नहीं!

शिखरस्वामी–वह और भी कुछ चाहता है।

रामगुप्त–क्या कुछ सहायता भी माँग रहा है?

शिखरस्वामी–(सिर झुकाकर गम्भीरता से) नहीं देव, वह बहुत ही असंगत और अशिष्ट याचना कर रहा है।

रामगुप्त–क्या? कुछ कहो भी।

शिखरस्वामी–क्षमा हो महाराज! दूत तो अवध्य होता ही है, इसलिए उसका सन्देश सुनना ही पड़ा। वह कहता था कि शकराज से महादेवी ध्रुवस्वामिनी का रुककर ध्रुवस्वामिनी की ओर देखने लगता है। ध्रुवस्वामिनी सिर हिलाकर कहने की आज्ञा देती है। विवाह-सम्बन्ध स्थिर हो चुका था। बीच में

ही आर्य समुद्रगुप्त की विजय-यात्र में महादेवी के पिताजी ने उपहार में उन्हें गुप्तकुल में भेज दिया।

रामगुप्त—ऐं, क्या कहते हो? अमात्य, क्या वह महादेवी को माँगता है?

शिखर-स्वामी—हाँ देव! साथ ही वह अपने सामन्तों के लिए भी मगध के सामन्तों की स्त्रियों को माँगता है।

रामगुप्त—(श्वास लेकर) ठीक ही है, जब उसके पास सामन्त हैं, तब उन लोगों के लिए भी स्त्रियाँ चाहिए। हाँ, क्या यह सच है कि महादेवी के पिता ने पहले शकराज से इनका सम्बन्ध स्थिर कर लिया था?

शिखर-स्वामी—यह तो मुझे नहीं मालूम। (ध्रुवस्वामिनी रोष से फूलती हुई टहलने लगती है।)

रामगुप्त—महादेवी, अमात्य क्या पूछ रहे हैं?

ध्रुवस्वामिनी—इस प्रथम सम्भाषण के लिए मैं कृतज्ञ हुई महाराज! किन्तु मैं भी यह जानना चाहती हूँ कि गुप्त साम्राज्य क्या स्त्री-सम्प्रदान से ही बढ़ा है?

रामगुप्त—(झेंपकर हँसता हुआ) हें-हें-हें, बताइए अमात्य जी!

शिखरस्वामी—मैं क्या कहूँ? शत्रु-पक्ष का यही सन्धि-सन्देश है। यदि स्वीकार न हो तो युद्ध कीजिए। शिविर दोनों ओर से घिर गया है। उसकी बातें मानिए, या मरकर भी अपनी कुलमर्यादा की रक्षा कीजिए। दूसरा कोई उपाय नहीं।

रामगुप्त—(चौंककर) क्या प्राण देने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं? ऊँ-हूँ तब तो महादेवी से पूछिए।

ध्रुवस्वामिनी—(तीव्र स्वर से) और आप लोग कुबड़ों, बौनों और नपुंसकों का नृत्य देखेंगे। मैं जानना चाहती हूँ कि किसने सुख-दुःख में मेरा साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा अग्निवेदी के सामने की है?

रामगुप्त—(चारों ओर देखकर) किसने की है, कोई बोलता क्यों नहीं

ध्रुवस्वामिनी—तो क्या मैं राजाधिराज रामगुप्त की महादेवी नहीं हूँ

रामगुप्त—क्यों नहीं? परन्तु रामगुप्त ने ऐसी कोई प्रतिज्ञा न की होगी। मैं तो उस दिन द्राक्षासव-सर में डुबकी लगा रहा था। पुरोहितों ने न जाने क्या-क्या पढ़ा दिया होगा। उन सब बातों का बोझ मेरे सिर पर! (सिर हिलाकर) कदापि नहीं।

ध्रुवस्वामिनी—(निस्सहाय होकर दीनता से शिखरस्वामी के प्रति) यह तो हुई राजा की व्यवस्था, अब सुनूँ, मन्त्री महोदय क्या कहते हैं!

शिखरस्वामी—मैं कहूँगा देवि, अवसर देखकर राज्य की रक्षा करने वाली उचित सम्मति देना ही तो मेरा कर्तव्य है। राजनीति के सिद्धान्त में राष्ट्र की रक्षा सब उपायों से करने का आदेश है। उसके लिए राजा, रानी, कुमार और अमात्य सबका विसर्जन किया जा सकता है, किन्तु राज विसर्जन अन्तिम उपाय है।

रामगुप्त—(प्रसन्नता से) वाह! क्या कहा तुमने! तभी तो लोग तुम्हें नीतिशास्त्र का बृहस्पति समझते हैं।

ध्रुवस्वामिनी—अमात्य, तुम बृहस्पति हो चाहे शुक्र, किन्तु, धूर्त होने से ही क्या मनुष्य भूल नहीं सकता? आर्य समुद्रगुप्त के पुत्र को पहचानने में तुमने भूल तो नहीं की। सिंहासन पर भ्रम से किसी दूसरे को तो नहीं बैठा दिया?

रामगुप्त—(आश्चर्य से) क्या क्या? क्या?

ध्रुवस्वामिनी—कुछ नहीं, मैं केवल यही कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है। वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते हो। हाँ, तुम लोगों को आपत्ति से बचाने के लिए मैं स्वयं यहाँ से चली जाऊँगी।

शिखरस्वामी—(मुँह बनाकर) उँह, राजनीति में ऐसी बातों को स्थान नहीं। जब तक नियमों के अनुकूल सन्धि का पूर्ण रूप से पालन न किया जाय, तब तक सन्धि का कोई अर्थ ही नही।

ध्रुवस्वामिनी—देखती हूँ कि इस राष्ट्र-रक्षा-यज्ञ में रानी की बलि होगी ही।

शिखरस्वामी—दूसरा कोई उपाय नहीं।

ध्रुवस्वामिनी—(क्रोध से पैर पटकर) उपाय नहीं, तो न हो, निर्लज्ज अमात्य! फिर ऐसा प्रस्ताव मैं सुनना नहीं चाहती।

रामगुप्त—(चौंककर) इस छोटी-सी बात के लिए इतना बड़ा उपद्रव! (दासी की ओर देखकर) मेरा तो कण्ठ सूखने लगा।

(वह मदिरा देती है)

ध्रुवस्वामिनी—(दृढ़ता से) अच्छा, तो अब मैं चाहती हूँ कि अमात्य अपने मन्त्रणा-गृह में जाएँ। मैं केवल रानी ही नहीं, किन्तु स्त्री भी हूँ, मुझे अपने को पति कहलाने वाले पुरुष से कुछ कहना है, राजा से नहीं।

(शिखरस्वामी का दासियों के साथ प्रस्थान)

रामगुप्त–ठहरो जी, मैं भी चलता हूँ (उठना चाहता है। ध्रुवस्वामिनी उसका हाथ पकड़कर रोक लेती है।) तुम मुझसे क्या कहना चाहती हो?

ध्रुवस्वामिनी–(ठहरकर) अकेले यहाँ भय लगता है क्या? बैठिए, सुनिए। मेरे पिता ने उपहारस्वरूप कन्यादान किया था, किन्तु गुप्त सम्राट क्या अपनी पत्नी शत्रु को उपहार में देंगे (घुटने के बल बैठकर) ? देखिए, मेरी ओर देखिए। मेरा स्त्रीत्व क्या इतने का भी अधिकारी नहीं कि अपने को स्वामी समझने वाला पुरुष उसके लिए प्राणों का पण लगा सके?

रामगुप्त–(उसे देखता हुआ) तुम सुन्दर हो, ओह, कितनी सुन्दरय किन्तु सोने की कटार पर मुग्ध होकर उसे कोई अपने हृदय में डुबा नहीं सकता। तुम्हारी सुन्दरता - तुम्हारा नारीत्व - अमूल्य हो सकता है। फिर भी अपने लिए मैं स्वयं कितना आवश्यक हूँ, कदाचित् तुम यह नहीं जानती हो।

ध्रुवस्वामिनी–(उसके पैरों को पकड़कर) मैं गुप्त-कुल की वधू होकर इस राजपरिवार में आई हूँ, इसी विश्वास पर ।

रामगुप्त–(उसे रोककर) वह सब मैं नहीं सुनना चाहता।

ध्रुवस्वामिनी–मेरी रक्षा करो। मेरे और अपने गौरव की रक्षा करो। राजा, आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूँ। मैं स्वीकार करती हूँ कि आज तक मैं तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई, किन्तु वह मेरा अहंकार चूर्ण हो गया है। मैं तुम्हारी होकर रहूँगी। राज्य और सम्पत्ति रहने पर राजा को - पुरुष को बहुत-सी रानियाँ और स्त्रियाँ मिलती हैं, किन्तु व्यक्ति का मान नष्ट होने पर फिर नहीं मिलता।

रामगुप्त–(घबराकर उसका हाथ हटाता हुआ) ओह, तुम्हारा यह घातक स्पर्श बहुत ही उत्तेजनापूर्ण है। मैं, नहीं। तुम, मेरी रानी! नहीं, नहीं। जाओ, तुमको जाना पड़ेगा। तुम उपहार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूँ। इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति हो?

ध्रुवस्वामिनी–(खड़ी होकर रोष से) निर्लज्ज! मद्यप!! क्लीव!!! ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं (ठहरकर) नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतलमणि नहीं हूँ। मुझमें रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय ऊष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी (रशना से कृपाण निकाल लेती है)।

रामगुप्त–(भयभीत होकर पीछे हटता हुआ) तो क्या तुम मेरी हत्या करोगी?

ध्रुवस्वामिनी—तुम्हारी हत्या नहीं, तुम जियो। भेड़ की तरह तुम्हारा क्षुद्र जीवन! उसे न लूँगी! मैं अपना ही जीवन समाप्त करूँगी।

रामगुप्त—किन्तु तुम्हारे मर जाने पर उस बर्बर शकराज के पास किसको भेजा जाएगा? नहीं, नहीं, ऐसा न करो। हत्या! हत्या!! दौड़ो। दौड़ो!! (भागता हुआ निकल जाता है। दूसरी ओर से वेग सहित चन्द्रगुप्त का प्रवेश)

चन्द्रगुप्त—हत्या! कैसी हत्या!! (ध्रुवस्वामिनी को देखकर) यह क्या? महादेवी, ठरिए!

ध्रुवस्वामिनी—कुमार, इसी समय तुम्हें भी आना था! (सकरुण देखती हुई) मैं प्रार्थना करती हूँ कि तुम यहाँ से चले जाओ! मुझे अपने अपमान में निर्वसन-नग्न देखने का किसी पुरुष को अधिकार नहीं। मुझे मृत्यु की चादर से अपने को ढँक लेने दो।

चन्द्रगुप्त—किन्तु क्या कारण सुनने का मैं अधिकारी नहीं हूँ?

ध्रुवस्वामिनी—सुनोगे? (ठहरकर सोचती हुई) नहीं, अभी आत्महत्या नहीं करूँगी, जब तुम आ गए हो तो थोड़ा ठहरूँगी। यह तीखी छुरी इस अतृप्त हृदय में, विकासोन्मुख कुसुम में विषैले कीट के डंक की तरह चुभा दूँ या नहीं, इस पर विचार करूँगी। यदि नहीं तो मेरी दुर्दशा का पुरस्कार क्या कुछ और है? हाँ, जीवन के लिए कृतज्ञ, उपकृत और आभारी होकर किसी के अभिमानपूर्ण आत्म-विज्ञापन का भार ढोती रहूँ। यही क्या विधाता का निष्ठुर विधान है? छुटकारा नहीं। जीवन नियति के कठोर आदेश पर चलेगा ही। तो क्या यह मेरा जीवन भी अपना नहीं है?

चन्द्रगुप्त—देवि, जीवन विश्व की सम्पत्ति है। प्रमाद से, क्षणिक आवेश से, या दु:ख की कठिनाइयों से उसे नष्ट करना ठीक तो नहीं। गुप्त-कुल लक्ष्मी आज यह छिन्नमस्ता का अवतार किसलिए धारण करना चाहती है, सुनूँ भी?

ध्रुवस्वामिनी—नहीं, मैं मरूँगी नहीं! क्योंकि तुम आ गये हो। मेरी शिविका के साथ चामर-सज्जित अश्व पर चढ़कर तुम्हीं उस दिन आए थे। तुम्हारा विश्वासपूर्ण मुखमण्डल मेरे साथ आने में क्यों इतना प्रसन्न था?

चन्द्रगुप्त—मैं गुप्त-कुल-वधू को आदर सहित ले आने के लिए गया था, फिर प्रसन्न क्यों न होता?

ध्रुवस्वामिनी—तो फिर आज मुझे शक-शिविर में पहुँचाने के लिए उसी प्रकार तुमको मेरे साथ चलना होगा। (आँखों से आँसू पोंछती है!)

चन्द्रगुप्त—(आश्चर्य से) यह कैसा परिहास!

ध्रुवस्वामिनी—कुमार! यह परिहास नहीं, राजा की आज्ञा है। शकराज को मेरी अत्यन्त आवश्यकता है। यह अवरोध, बिना मेरा उपहार दिए नहीं हट सकता।

चन्द्रगुप्त—(आवेश से) यह नहीं हो सकता। महादेवी! जिस मर्यादा के लिए-जिस महत्त्व को स्थिर रखने के लिए मैंने राजदण्ड ग्रहण न करके अपना मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया, उसका यह अपमान! मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पद-दलित होना न पड़ेगा। (ठहरकर) और भी एक बात है। मेरे हृदय के अन्धकार में प्रथम किरण-सी आकर जिसने अज्ञातभाव से अपना मधुर आलोक ढाल दिया था, उसको भी मैंने केवल इसीलिए भूलने का प्रयत्न किया कि (सहसा चुप हो जाता है।)

ध्रुवस्वामिनी—(आँख बन्द किए हुए कुतूहल-भरी प्रसन्नता से) हाँ-हाँ, कहो-कहो।

(शिखरस्वामी के साथ रामगुप्त का प्रवेश)

रामगुप्त—देखो तो कुमार! यह भी कोई बात है! आत्महत्या कितना बड़ा अपराध है!

चन्द्रगुप्त—और आप से तो वह भी करते नहीं बनता।

रामगुप्त—(शिखरस्वामी से) देखो, कुमार के मन में छिपा हुआ कलुष कितना कितना भयानक है?

शिखरस्वामी—कुमार, विनय गुप्त-कुल का सर्वोत्तम गृह-विधान है, उसे न भूलना चाहिए!

चन्द्रगुप्त—(व्यंग्य से हँसकर) अमात्य, तभी तो तुमने व्यवस्था दी है कि महादेवी को देकर भी सन्धि की जाय! क्यों, यही तो विनय की पराकाष्ठा है! ऐसा विनय प्रवंचकों का आवरण है, जिसमें शील न हो। और शील परस्पर सम्मान की घोषणा करता है। कापुरुष! आर्य समुद्रगुप्त का सम्मान।

शिखरस्वामी—(बीच में बात काटकर) उसके लिए मुझे प्राणदण्ड दिया जाए! मैं उसे अविचल भाव से ग्रहण करूँगा, परन्तु राजा और राष्ट्र की रक्षा होनी चाहिए।

मन्दाकिनी—(प्रवेश करके) राजा अपने राष्ट्र की रक्षा करने में असमर्थ है, तब भी उस राजा की रक्षा होनी ही चाहिए। अमात्य, यह कैसी विवशता है! तुम मत्युदण्ड के लिए उत्सुक! महादेवी आत्महत्या करने के लिए प्रस्तुत! फिर यह हिचक क्यों? एक बार अन्तिम बल से परीक्षा कर देखो! बचोगे तो राष्ट्र और सम्मान भी बचेगा, नहीं तो सर्वनाश!

चन्द्रगुप्त–आह मन्दा! भला तू कहाँ से यह उल्लास-भरी बात कहने के लिए आ गई? ठीक तो है अमात्य! सुनो, यह स्त्री क्या कह रही है?

रामगुप्त–(अपने हाथों को मसलते हुए) दुरभिसन्धि, छल, मेरे प्राण लेने का कौशल!

चन्द्रगुप्त–तब आओ, हम लोग स्त्री बन जाएँ और बैठकर रोएँ।

हिजड़ा–(प्रवेश करके) कुमार, स्त्री बनना सहज नहीं है! कुछ दिनों तक मुझसे सीखना होगा। (सबका मुँह देखता है और शिखरस्वामी के मुँह पर हाथ फेरता है) उहूँ, तुम नहीं बन सकते! तुम्हारे ऊपर बड़ा कठोर आवरण है। (कुमार के समीप जाकर) कुमार! मैं शपथ खाकर कह सकती हूँ कि यदि मैं अपने हाथों से सजा दूँ तो आपको देखकर महादेवी को भ्रम हो जाए।

(चन्द्रगुप्त उसका कान पकड़कर बाहर कर देता है)

ध्रुवस्वामिनी–उसे छोड़ दो, कुमार! यहाँ पर एक वही नपुंसक तो नहीं है। बहुत-से लोगों में किसको-किसको निकालोगे?

(चन्द्रगुप्त उसे छोड़कर चिन्तित-सा टहलने लगता है और शिखरस्वामी रामगुप्त के कानों में कुछ कहता है)

चन्द्रगुप्त–(सहसा खड़े होकर) अमात्य, तो तुम्हारी ही बात रही। हाँ, उसमें तुम्हारे सहयोगी हिजड़े की भी सम्मति मुझे अच्छी लगी। मैं ध्रुवस्वामिनी बनकर अन्य सामन्त कुमारों के साथ शकराज के पास जाऊँगा। अगर सफल हुआ तब तो कोई बात ही नहीं, अन्यथा मेरी मृत्यु के बाद तुम लोग जैसा उचित समझाना, वैसा करना।

ध्रुवस्वामिनी–(चन्द्रगुप्त को अपनी भुजाओं में पकड़कर) नहीं, मैं तुमको न जाने दूँगी। मेरे क्षुद्र, दुर्बल नारी-जीवन का सम्मान बचाने के लिए इतने बड़े बलिदान की आवश्यकता नहीं।

रामगुप्त–(आश्चर्य और क्रोध से) छोड़ो-छोड़ो, यह कैसा अनर्थ! सबके सामने यह कैसी निर्लज्जता!

ध्रुवस्वामिनी–(चन्द्रगुप्त को छोड़ती हुई जैसे–चौतन्य होकर) यह पाप है। जो मेरे लिए अपनी बलि दे सकता हो, जो मेरे स्नेह (ठहरकर) अथवा इससे क्या? शकराज क्या मुझे देवी बनाकर भक्ति-भाव से मेरी पूजा करेगा? वाह रे लज्जाशील पुरुष!

(शिखरस्वामी फिर रामगुप्त के कानों में कुछ कहता है। रामगुप्त स्वीकारसूचक सिर हिलाता है)

शिखरस्वामी–राजाधिराज! आज्ञा दीजिए, यही एक उपाय है, जिसे कुमार बता रहे हैं, किन्तु राजनीति की दृष्टि से महादेवी का भी वहाँ जाना आवश्यक है।

चन्द्रगुप्त–(क्रोध से) क्यों आवश्यक है! यदि उन्हें जाना ही पड़ा, तो फिर मेरे जाने से क्या लाभ तब मैं न जाऊँगा।

रामगुप्त–नहीं, यह मेरी आज्ञा है। सामन्त कुमारों के साथ जाने के लिए प्रस्तुत हो जाओ।

ध्रुवस्वामिनी–तो कुमार! हम लोगों का चलना निश्चित ही है। अब इसमें विलम्ब की आवश्यकता नहीं।

(चन्द्रगुप्त का प्रस्थान। ध्रुवस्वामिनी मंच पर बैठकर रोने लगती है)

रामगुप्त–अब यह कैसा अभिनय! मुझे तो पहले से ही शंका थी और आज तो तुमने मेरी आँखें खोल दी।

ध्रुवस्वामिनी–अनार्य! निष्ठुर! मुझे कलंक-कालिमा के कारागर में बन्द कर, मर्म-वाक्य के धुएँ से दम घोंटकर मार डालने की आशा न करो। आज मेरी असहायता मुझे अमृत पिलाकर मेरा निर्लज्ज जीवन बढ़ाने के लिए तत्पर है। (उठकर, हाथ से निकल जाने का संकेत करते हुए) जाओ, मैं एकान्त चाहती हूँ।

(शिखरस्वामी के साथ रामगुप्त का प्रस्थान)

ध्रुवस्वामिनी–कितना अनुभूतिपूर्ण था वह एक क्षण का आलिंगन। कितने सन्तोष से भरा था। नियति ने अज्ञात भाव से मानो लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन में सायंकालीन शीतल आकाश से मिला दिया हो। (ठहरकर) जिस आयुविहीन प्रदेश में उखड़ी हुई साँसों पर बन्धन हो - अर्गला हो, वहाँ रहते-रहते यह जीवन असह्य हो गया था तो भी मरूँगी नहीं। संसार के कुछ दिन विधाता के विधान में अपने लिए सुरक्षित करा लूँगी। कुमार! तुमने वही किया, जिसे मैं बचाती रही। तुम्हारे उपकार और स्नेह की वर्षा से मैं भीगी जा रही हूँ। ओह, (हृदय पर उँगली रखकर) इस वक्षस्थल में दो हृदय हैं क्या? अब अन्तरंग 'हाँ' करना चाहता है, जब ऊपरी मन 'ना' क्यों कह देता है?

चन्द्रगुप्त–(प्रवेश करके) महादेवी, हम लोग प्रस्तुत हैं, किन्तु ध्रुवस्वामिनी के साथ शक-शिविर में जाने के लिए हम लोग सहमत नहीं।

ध्रुवस्वामिनी–(हँसकर) राजा की आज्ञा मान लेना ही पर्याप्त नहीं। रानी की भी एक बात न मानोगे? मैंने तो पहले ही कुमार से प्रार्थना की थी कि मुझे जैसे–ले आए हो उसी तरह पहुँचा भी दो।

चन्द्रगुप्त–नहीं - मैं अकेले ही जाऊँगा।

ध्रुवस्वामिनी–कुमार! यह मृत्यु और निर्वासन का सुख तुम अकेले ही लोगे, ऐसा नहीं हो सकता। राजा की इच्छा क्या है, यह जानते हो? मुझसे और तुमसे एक साथ ही छुटकारा! तो फिर वही क्यों न हो हम दोनों ही चलेंगे। मृत्यु के गह्वर में प्रवेश करने के समय मैं भी तुम्हारी ज्योति बनकर बुझ जाने की कामना रखती हूँ और भी एक विनोद, प्रलय का परिहास, देख सकूँगी। मेरे सहचरी! तुम्हारा वह ध्रुवस्वामिनी का वेश ध्रुवस्वामिनी ही न देखे तो किस काम का?

(दोनों हाथों से चन्द्रगुप्त का चिबुक पकड़ कर सकरुण देखती है।)

चन्द्रगुप्त–(अधखुली आँखों से देखता हुआ) तो फिर चलो।

(सामंतकुमारों के आगे-आगे मंदाकिनी का गंभीर-स्वर में गाते हुए प्रवेश)

पैरों के नीचे जलधर हों, बिजली से उनका खेल चले।
संकीर्ण कगारों के नीचे, शत-शत झरने बेमेल चलें
सन्नाटे में हो विकल पवन, पादप निज पद हों चूम रहे।
तब भी गिरि पथ का अथक पथिक, ऊपर ऊँचे सब झेल चले
पृथ्वी की आँखों में बनकर, छाया का पुतला बढ़ता हो।
सूने तम में हो ज्योति बना, अपनी प्रतिमा को गढ़ता हो
पीड़ा की धूल उड़ाता-सा, बाधाओं को ठुकराता-सा।
कष्टों पर कुछ मुसक्याता-सा, ऊपर ऊँचे सब झेल चले
खिलते हों क्षत के फूल वहाँ, बन व्यथा तमिस्रा के तारे।
पद-पद पर ताण्डव नर्तक हों, स्वर सप्तक होवें लय सारे
भैरव रव से हो व्याप्त दिशा, हो काँप रही भय-चकित निशा।
हो स्वेद धार बहती कपिशा, ऊपर ऊंचे सब झेल चले
विचलित हो अचल न मौन रहे, निष्ठुर श्रृंगार उतरता हो।
क्रन्दन कम्पन न पुकार बने, निज साहस पर निर्भरता हो
अपनी ज्वाला को आप पिये, नव नील कण्ठ की छाप लिये।
विश्राम शांति को शाप दिए, ऊपर ऊँचे सब झेल चले

(एक दुर्ग के भीतर सुनहले कामवाले खम्भों पर एक दालान, बीच में छोटी-छोटी-सी सीढ़ियाँ, उसी के सामने कश्मीरी खुदाई का सुंदर लकड़ी का सिंहासन। बीच के दो खंभे खुले हुए हैं, उनके दोनों ओर मोटे-मोटे चित्र बने हुए तिब्बती ढंग से रेशमी पर्दे पड़े हैं, सामने बीच में छोटा-सा आँगन की तरह,

जिसके दोनों ओर क्यारियाँ, उनमें दो-चार पौधे और लताएँ फूलों से लदी दिखलाई पड़ती हैं।)

कोमा–(धीरे-धीरे पौधों को देखती हुई प्रवेश करके) इन्हें सींचना पड़ता है, नहीं तो इनकी रुखाई और मलिनता सौंदर्य पर आवरण डाल देती हैं। (देखकर) आज तो इनके पत्ते धुले हुए भी नहीं हैं। इनमें फूल जैसे–मुकुलित होकर ही रह गए हैं। खिलखिलाकर हँसने का मानो इन्हें बल नहीं। (सोचकर) ठीक, इधर कई दिनों में महाराज अपने युद्ध-विग्रह में लगे हुए हैं और मैं भी यहाँ नहीं आई, तो फिर इनकी चिन्ता कौन करता? उस दिन मैंने यहाँ दो मंच और भी रख देने के लिए कह दिया था, पर सुनता कौन है? सब जैसे–रक्त के प्यासे! प्राण लेने और देने में पागल! वसन्त का उदास और असल पवन आता है, चला जाता है। कोई उस स्पर्श से परिचित नहीं। ऐसा तो वास्तविक जीवन नहीं है (सीढ़ी पर बैठकर सोचने लगती है) प्रणय! प्रेम! जब सामने से आते हुए तीव्र आलोक की तरह आँखों में प्रकाशपुंज उड़ेल देता है, तब सामने की सब वस्तुएँ और भी अस्पष्ट हो जाती हैं। अपनी ओर से कोई भी प्रकाश की किरण नहीं। तब वही, केवल वही! हो पागलपन, भूल हो, दुःख मिले। प्रेम करने की एक ऋतु होती है। उसमें चूकना, उसमें सोच-समझकर चलना दोनों बराबर हैं। सुना है दोनों ही संसार के चतुरों की दृष्टि से मूर्ख बनते हैं, तब कोमा, तू किसे अच्छा समझती है? (गाती है)

यौवन! तेरी चंचल छाया।
इसमें बैठे घूँट भर पी लूँ जो रस तू है लाया।
मेरे प्याले में पद बनकर कब तू छली समाया।
जीवन-वंशी के छिद्रों में स्वर बनकर लहराया।
पल भर रुकने वाले! कह तू पथिक! कहाँ से आया

(चुप होकर आँखें बंद किए तन्मय होकर बैठी रह रह जाती है। शकराज का प्रवेश। हाथ में एक लम्बी तलवार लिए चिंतित भाव से आकर इस तरह खड़ा होता है, जिससे कोमा को नहीं देखता।)

शकराज–खिंगल अभी नहीं आया, क्या वह वंदी तो नहीं कर लिया गया? नहीं, यदि वे अंधे नहीं हैं तो उन्हें अपने सिर पर खड़ी विपत्ति दिखाई देनी चाहिए। (सोचकर) विपत्ति, केवल उन्हीं पर तो नहीं है, हम लोगों को भी रक्त की नदी बहानी पड़ेगी। चित्त बड़ा चंचल हो रहा है, तो बैठ जाऊँ इस एकान्त में। अपने बिखरे हुए मन को सँभाल लूँ। (इधर-उधर देखता है, कोमा आहट पाकर खड़ी होती है। उसे देखकर) अरे, कोमा! कोमा!

कोमा–हाँ, महाराज! क्या आज्ञा है?

शकराज–(उसे स्निग्ध भाव से देखकर) आज्ञा नहीं, कोमा! तुम्हें आज्ञा न दूँगा! तुम रूठी हुई-सी क्यों बोल रही हो?

कोमा–रूठने का सुहाग मुझे मिला कब?

शकराज–आजकल में जैसी भीषण परिस्थिति में हूँ, उसमें अन्यमनस्क होना स्वाभाविक है, तुम्हें यह भूल न जाना चाहिए।

कोमा–तो क्या आपकी दुश्चिन्ताओं में मेरा भाग नहीं? मुझे उससे अलग रखने से क्या वह परिस्थिति कुछ सरल हो रही है?

शकराज–तुम्हारे हृदय को उन दुर्भावनाओं में डालकर व्यथित नहीं करना चाहता। मेरे सामने जीवन-मरण का प्रश्न है।

कोमा–प्रश्न स्वयं किसी के सामने नहीं आते। मैं तो समझती हूँ, मनुष्य उन्हें जीवन के लिए उपयोगी समझता है। मकड़ी की तरह लटकने के लिए अपने आप ही जाला बुनता है। जीवन का प्राथमिक प्रसन्न उल्लास मनुष्य के भविष्य में मंगल और सौभाग्य को आमंत्रित करता है। उससे उदासीन न होना चाहिए, महाराज!

शकराज–सौभाग्य और दुर्भाग्य मनुष्य की दुर्बलता के नाम हैं। मैं तो पुरुषार्थ को ही सबका नियामक समझता हूँ! पुरुषार्थ ही सौभाग्य को खींच लाता है। हाँ, मैं इस युद्ध के लिए उत्सुक नहीं था कोमा, मैं ही दिग्विजय के लिए नहीं निकला था।

कोमा–संसार के नियम के अनुसार आप अपने से महान् के सम्मुख थोड़ा-सा विनीत बनकर उस उपद्रव से अलग रह सकते थे।

शकराज–यही तो मुझसे नहीं हो सकता।

कोमा–अभावमयी लघुता में मनुष्य अपने को महत्त्वपूर्ण दिखाने का अभिनय न करे तो क्या अच्छा नहीं है?

शकराज–(चिढ़कर) यह शिक्षा अभी रहने दो कोमा, मैं किसी से बड़ा नहीं हूँ तो छोटा भी नहीं बनना चाहता। तुम अभी तक पाषाणी प्रतिमा की तरह वहीं खड़ी हो, मेरे पास आओ।

कोमा–पाषाणी! हाँ, राजा! पाषाणी के भीतर भी कितने मधुर स्रोत बहते रहते हैं। उनमें मदिरा नहीं, शीतल जल की धारा बहती है। प्यासों की तृप्ति।

शकराज–किन्तु मुझे तो इस समय स्फूर्ति के लिए एक प्याला मदिरा ही चाहिए–

कोमा–(स्थिर दृष्टि से देखती हुई) मैं ले आती हूँ। आप बैठिए।

(कोमा एक छोटा-सा मंच रख देती है और चली जाती है। शकराज मंच पर बैठ जाता है। खिंगल का प्रवेश)

शकराज–कहो जी, क्या समाचार है?

खिंगल–महाराज! मैंने उन्हें अच्छी तरह समझा दिया कि हम लोगों का अवरोध दृढ़ है। उन्हें दो में से एक करना ही होगा या तो अपने प्राण दें अन्यथा मेरे सन्धि के नियमों को स्वीकार करें।

शकराज–(उत्सुकता से) तो वे समझ गए?

खिंगल–दूसरा उपाय ही क्या था! यह छोकड़ा रामगुप्त, समुद्रगुप्त की तरह दिग्विजय करने निकला था। उसे इन बीहड़ पहाड़ी घाटियों का परिचय नहीं मिला था। किन्तु सब बातों को समझकर वह अपने नियमों को मानने के लिए बाध्य हुआ।

शकराज–(प्रसन्नता से उठकर दोनों हाथ पकड़ लेता है) ऐं! तुम सच कहते हो? मुझे आशा नहीं। क्या मेरा दूसरा प्रस्ताव भी रामगुप्त ने मान लिया?

(स्वर्ण के कलश में मदिरा लेकर कोमा चुपके से आकर पीछे खड़ी हो जाती है।)

खिंगल–हाँ महाराज! उसने माँगे हुए सब उपहारों को देना स्वीकार किया और ध्रुवस्वामिनी भी आपकी सेवा में शीघ्र ही उपस्थित होती है।

(कोमा चौंक उठती है और शकराज प्रसन्नता से खिंगल के हाथों को झकझोरने लगता है)

शकराज–खिंगल! तुमने कितना सुंदर समाचार सुनाया! आज देव-पुत्रों की स्वर्गीय आत्माएँ प्रसन्न होंगी। उनकी पराजयों का यह प्रतिशोध है। हम लोग गुप्तों की दृष्टि में जंगली, बर्बर और असभ्य हैं तो फिर मेरी प्रतिहिंसा ही बर्बरता के भी अनुकूल होगी। हाँ, मैंने अपने शूर-सामन्तों के लिए भी स्त्रियाँ माँगी थीं।

खिंगल–वे भी साथ ही आएँगी।

शकराज–तो फिर सोने की झाँझवाली नाच का प्रबन्ध करो। इस विजय का उत्सव मनाया जाय और मेरे सामन्तों का भी शीघ्र बुला लाओ।

(खिंगल का प्रस्थान। शकराज अपनी प्रसन्नता में उद्विग्न-सा इधर-उधर टहलने लगता है और कोमा अपना कलश लिए हुए धीरे-धीरे सिंहासन के पास जाकर खड़ी हो जाती है। चार सामन्तों का प्रवेश। दूसरी ओर से नर्तकियों का दल आता है। शकराज उनकी ओर ही देखता हुआ सिंहासन पर बैठ जाता है। सामन्त लोग उसके पैरों के नीचे सीढ़ियों पर बैठते हैं। नर्तकियाँ नाचती हुई गाती हैं)

गाना –

अस्ताचल पर युवती सन्ध्या की खुली अलक घुँघराली है।
लो, मानिक मदिरा की धारा अब बहने लगी निराली है।
भरी ली पहाड़ियों ने अपनी झीलों की रत्नमयी प्याली।
झुक चली चूमने बल्लरियों से लिपटी तरु की डाली है।
यह लगा पिघलने मानिनियों का हृदय मृदु-प्रणय-रोष भरा।
वे हँसती हुई दुलार-भरी मधु लहर उठाने वाली है।
भरने निकले हैं प्यार भरे जोड़े कुंजों की झुरमुट से।
इस मधुर अँधेरी में अब तक क्या इनकी प्याली खाली है।
भर उठीं प्यालियाँ, सुमनों ने सौरभ मकरन्द मिलाया है।
कामिनियों ने अनुराग-भरे अधरों से उन्हें लगा ली है।
वसुधा मदमाती हुई उधर आकाश लगा देखो झुकने।
सब झूम रहे अपने सुख में तूने क्यों बाधा डाली है।
(नर्तकियाँ जाने लगती हैं)

एक सामन्त–श्रीमान! इतनी बड़ी विजय के अवसर पर इस सूखे उत्सव से सन्तोष नहीं होता, जबकि कलश सामने भरा हुआ रखा है।

शकराज–ठीक है, इन लोगों को केवल कहकर ही नहीं, प्यालियाँ भरकर भी देनी चाहिए।

(सब पीते हैं और नर्तकियाँ एक-एक को सानुरोध पान कराती हैं)

दूसरा सामन्त–श्रीमान् की आज्ञा मानने के अतिरिक्त दूसरी गति नहीं। उन्होंने समझ से काम लिया, नहीं तो हम लोगों को इस रात की कालिमा में रक्त की लाली मिलानी पड़ती।

तीसरा सामन्त–क्यों बक-बक करते हो? चुपचाप इस बिना परिश्रम की विजय का आनन्द लो। लड़ना पड़ता तो सारी हेकड़ी भूल जाती।

दूसरा सामन्त–(क्रोध से लड़खड़ाता हुआ उठता है) हमसे!

तीसरा सामन्त–हाँ जी, तुमसे!

दूसरा सामन्त–तो फिर आओ, तुम्हीं से निपट लें। (सब परस्पर लड़ने की चेष्टा कर रहे हैं। शकराज खिंगल को संकेत करता है। वह उन लोगों को बाहर लिवा जाता है। तूर्यनाद)

शकराज–रात्रि के आगमन की सूचना हो गई। दुर्ग का द्वार अब शीघ्र ही बन्द होगा। अब तो हृदय अधीर हो रहा है। खिंगल!

(खिंगल का पुनः प्रवेश)

खिंगल–दुर्ग-तोरण में शिविकाएँ आ गई हैं।

शकराज–(गर्व से) तब विलम्ब क्यों? उन्हें अभी ले आओ।

खिंगल–(सविनय) किन्तु रानी की एक प्रार्थना है।

शकराज–क्या?

खिंगल–वह पहले केवल श्रीमान् से ही सीधे भेंट करना चाहती हैं। उसकी मर्यादा।

शकराज–(ठठाकर हँसते हुए) क्या कहा मर्यादा! भाग्य ने झुकने के लिए, जिन्हें विवश कर दिया है, उन लोगों के मन में मर्यादा का ध्यान और भी अधिक रहता है। यह उनकी दयनीय दशा है।

खिंगल–वह श्रीमान् की रानी होने के लिए आ रही है।

शकराज–(हँसकर) अच्छा, तुम मध्यस्थ हो न! तुम्हारी बात मानकर मैं उससे एकान्त में ही भेंट करूँगा! जाओ।

(खिंगल का प्रस्थान)

कोमा–महाराज! मुझे क्या आज्ञा है?

शकराज–(चौंककर) अरे, तुम अभी यहीं खड़ी हो? मैं तो जैसे–भूल ही गया था। हृदय चंचल हो रहा है। मेरे समीप आओ, कोमा।

कोमा–नयी रानी के आगमन की प्रसन्नता से।

शकराज–(सँभलकर) नई रानी का आना क्या तुम्हें अच्छा नहीं लगा, कोमा?

कोमा–(निर्विकार भाव से) संसार में बहुत-सी बातें बिना अच्छी हुए भी अच्छी लगती है और बहुत-सी अच्छी बातें बुरी मालूम पड़ती हैं।

शकराज–(झुँझलाकर) तुम तो आचार्य मिहिरदेव की तरह दार्शनिकों की-सी बातें कर रही हो।

कोमा–वे मेरे पिता-तुल्य हैं, उन्हीं की शिक्षा में मैं पली हूँ। हाँ, ठीक है, जो बातें राजा को अच्छी लगें, वे ही मुझे भी रुचनी ही चाहिए।

शकराज–(अव्यवस्थित होकर) अच्छा, तुम इतनी अनुभूतिमयी हो, यह मैं आज जान सका।

कोमा–राजा, तुम्हारी स्नेह-सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर अलापों ने जिस दिन मन के नीरस और नीरव शून्य में संगीत की, वसन्त की और मकरन्द की सृष्टि की थी, उसी दिन से मैं अनुभूतिमयी बन गयी हूँ। क्या वह मेरा भ्रम था? कह दो - कह दो कि वह तेरी भूल थी।

(उत्तेजित कोमा सिर उठाकर राजा से आँख मिलाती है)

शकराज–(संकोच से) नहीं कोमा, वह भ्रम नहीं था। मैं सचमुच तुम्हें प्यार करता हूँ।

कोमा–(उसी तरह) तब भी यह बात?

शकराज–(सशंक) कौन-सी बात?

कोमा–वही, जो आज होने जा रही है! मेरे राजा! आज तुम एक स्त्री को अपने पति से विच्छिन्न कराकर अपने गर्व की तृप्ति के लिए कैसा अनर्थ कर रहे हो?

शकराज–(बात उड़ाते हुए, हँसकर) पागल कोमा! वह मेरी राजनीति का प्रतिशोध है।

कोमा–(दृढ़ता से) किन्तु राजनीति का प्रतिशोध क्या एक नारी को कुचले बिना नहीं हो सकता?

शकराज–जो विषय न समझ में आवे, उस पर विवाद न करो।

कोमा–(खिन्न होकर) मैं क्यों न करूँ? (ठहरकर) किन्तु नहीं, मुझे विवाद करने का अधिकार नहीं। यह मैं समझ गयी।

(वह दु:खी होकर जाना चाहती है कि दूसरी ओर से मिहिरदेव का प्रवेश।

शकराज–(सम्भ्रम से खड़ा होकर) धर्मपूज्य! मैं वन्दना करता हूँ।

मिहिरदेव–कल्याण हो! (कोमा के सिर पर हाथ रखकर) बेटी! मैं तो तुमको ही देखने चला आया। तू उदास क्यों है?

(शकराज की ओर मूक दृष्टि से देखने लगता है)

शकराज–आचार्य! रामगुप्त का दर्प दलन करने के लिए मैंने ध्रुवस्वामिनी को उपहार में भेजने की आज्ञा उसे दी थी। आज रामगुप्त की रानी मेरे दुर्ग में आई है। कोमा को इसमें आपत्ति है।

मिहिरदेव–(गम्भीरता से) ऐसे काम में तो आपत्ति होनी ही चाहिए, राजा! स्त्री का सम्मान नष्ट करके तुम जो भयानक अपराध करोगे, उसका फल क्या अच्छा होगा? और भी, यह अपनी भावी पत्नी के प्रति तुम्हारा अत्याचार होगा।

शकराज–(क्षोभ से) भावी पत्नी?

मिहिरदेव–अरे, क्या तुम इस क्षणिक सफलता से प्रमत्त हो जाओगे? क्या तुमने अपने आचार्य की प्रतिपालिता कुमारी के साथ स्नेह का सम्बन्ध नहीं स्थापित किया है? क्या इसमें भी सन्देह है? राजा! स्त्रियों का स्नेह-विश्वास भंग कर देना, कोमल तन्तु को तोड़ने से भी सहज है, परन्तु सावधान होकर उसके परिणाम को भी सोच लो।

शकराज—मैं समझता हूँ कि आप मेरे राजनीतिक कामों में हस्तक्षेप न करें तो अच्छा हो।

मिहिरदेव—राजनीति! राजनीति ही मनुष्यों के लिए सब कुछ नहीं है। राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो, जिसका विश्व मानव के साथ व्यापक सम्बन्ध है। राजनीति की साधारण छलनाओं से सफलता प्राप्त करके क्षण-भर के लिए तुम अपने को चतुर समझने की भूल कर सकते हो, परन्तु इस भीषण संसार में एक प्रेम करने वाले हृदय को खो देना, सबसे बड़ी हानि है, शकराज! दो प्यार करने वाले हृदयों के बीच में स्वर्गीय ज्योति का निवास है।

शकराज—बस, बहुत हो चुका। आपके महत्त्व की भी कोई सीमा होगी। अब आप यहाँ से नहीं जाते हैं, तो मैं ही चला जाता हूँ।

(प्रस्थान)

मिहिरदेव—चल कोमा! हम लोगों को लताओं, वृक्षों और चट्टानों से छाया और सहानुभूति मिलेगी। इस दुर्ग से बाहर चल।

कोमा—(गद्‌गद् कण्ठ से) पिता जी! (खड़ी रहती है)

मिहिरदेव—बेटी! हृदय को सँभाल। कष्ट सहन करने के लिए प्रस्तुत हो जा। प्रतारणा में बड़ा मोह होता है। उसे छोड़ने को मन नहीं करता। कोमा! छल का बहिरंग सुन्दर होता है—विनीत और आकर्षक भी, पर दु:खदायी और हृदय को बेधने के लिए इस बन्धन को तोड़ डाल।

कोमा—(सकरुण) तोड़ डालूँ पिता जी! मैंने जिसे अपने आँसुओं से सींचा, वही दुलारभरी वल्लरी, मेरे आँख बन्द कर चलने में मेरे ही पैरों से उलझ गई है। दे दूँ एक झटका - उसकी हरी-हरी पत्तियाँ कुचल जाएँ और वह छिन्न होकर धूल में लोटने लगे? न, ऐसी कठोर आज्ञा न दो।

मिहिरदेव—(नि:श्वास लेकर आकाश को देखते हुए) यहाँ तेरी भलाई होती, तो मैं चलने के लिए न कहता। हम लोग अखरोट की छाया में बैठेंगे - झरनों के किनारे, दाख के कुंजों में विश्राम करेंगे। जब नीले आकाश में मेघों के टुकड़े, मानसरोवर जाने वाले हंसों का अभिनय करेंगे, तब तू अपनी तकली पर ऊन कातती हुई कहानी कहेगी और मैं सुनूँगा।

कोमा—तो चलूँ! (एक बार चारों ओर देखकर) एक घड़ी के लिए मुझे।

मिहिरदेव—(ऊबकर आकाश की ओर देखता हुआ) तू नहीं मानती। वह देख, नील लोहित रंग का धूमकेतु अविचल भाव से इस दुर्ग की ओर कैसा भयानक संकेत कर रहा है।

कोमा–(उधर देखते हुए) तब एक क्षण मुझे।

मिहिरदेव–पागल लड़की! अच्छा, मैं फिर आऊँगा। तू सोच ले, विचार कर ले (जाता है)।

कोमा–जाना ही होगा! तब यह मन की उलझन क्यों? अमंगल का अभिशाप अपनी क्रूर हँसी से इस दुर्ग को कँपा देगा और सुख के स्वप्न विलीन हो जाएँगे। मेरे यहाँ रहने से उन्हें अपने भावों को छिपाने के लिए बनावटी व्यवहार करना होगा, पग-पग पर अपमानित होकर मेरा हृदय उसे सह न सकेगा, तो चलूँ! यही ठीक है! पिताजी! ठहरिए, मैं आती हूँ।

शकराज–(प्रवेश करके) कोमा!

कोमा–जाती हूँ, राजा!

शकराज–(भयभीत होकर उसे देखता हुआ) ओह! भयावनी पूँछ वाला धूमकेतु! आकाश का उच्छृंखल पर्यटक! नक्षत्र लोक का अभिशाप! कोमा! आचार्य को बुलाओ। वे जो आदेश देंगे वही मैं करूँगा। इस अमंगल की शान्ति होनी चाहिए।

कोमा–वे बहुत चिढ़ गए हैं। अब उनको प्रसन्न करना सहज नहीं है। वे मुझे अपने साथ लिवा जाने के लिए मेरी प्रतीक्षा करते होंगे।

शकराज–कोमा! पिताजी के साथ ।

कोमा–पिताजी के साथ।

शकराज–और मेरा प्यार, मेरा स्नेह, सब भुला दोगी? इस अमंगल की शान्ति करने के लिए आचार्य को न समझाओगी?

कोमा–(खिन्न होकर) प्रेम का नाम न लो। वह एक पीड़ा थी, जो छूट गई। उसकी कसक भी धीरे-धीरे दूर हो जाएगी। राजा, मैं तुम्हें प्यार नहीं करती। मैं तो दर्प से दीप्त तुम्हारी महत्त्वमयी पुरुष-मूर्ति की पुजारिन थी, जिसमें पृथ्वी पर अपने पैरों से खड़े रहने की दृढ़ता थी। इस स्वार्थ-मलिन कलुष से भरी मूर्ति से मेरा परिचय नहीं। अपने तेज की अग्नि में जो सब कुछ भस्म कर सकता हो, उसे दृढ़ता का आकाश के नक्षत्र कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकते। तुम आशंका मात्र से दुर्बल-कम्पित और भयभीत हो।

शकराज–(धूमकेतु को बार-बार देखता हुआ) भयानक! कोमा, मुझे बचाओ!

कोमा–जाती हूँ महाराज! पिताजी मेरी प्रतीक्षा करते होंगे।

(जाती है। शकराज अपने सिंहासन पर हताश होकर बैठ जाता है।)

प्रहरी—(प्रवेश करके) महाराज! ध्रुवस्वामिनी ने पूछा है कि एकान्त हो तो आऊँ।

शकराज—हाँ, कह दो कि यहाँ एकान्त है। और देखो, यहाँ दूसरा कोई न आने पावे।

(प्रहरी जाता है। शकराज चंचल होकर टहलने लगता है। धूमकेतु की ओर दृष्टि जाती है तो भयभीत होकर बैठ जाता है।)

शकराज—तो इसका कोई उपाय नहीं? न जाने क्यों मेरा हृदय घबरा रहा है। कोमा को समझा-बुझाकर ले आना चाहिए। (सोचकर) किन्तु इधर ध्रुवस्वामिनी जो आ रही है! तो भी देखूँ, यदि कोमा प्रसन्न हो जाय (जाता है)।

(स्त्री-वेश में चन्द्रगुप्त आगे और पीछे ध्रुवस्वामिनी स्वर्ण-खचित उत्तरीय में सब अंग छिपाए हुए आती है। केवल खुले हुए मुँह पर प्रसन्न चेष्टा दिखाई देती है।)

चन्द्रगुप्त—तुम आज कितनी प्रसन्न हो!

ध्रुवस्वामिनी—और तुम क्या नहीं?

चन्द्रगुप्त—मेरे जीवन-निशीथ का ध्रुव-नक्षत्र इस घोर अन्धकार में अपनी स्थिर उज्ज्वलता से चमक रहा है। आज महोत्सव है न?

ध्रुवस्वामिनी—लौट जाओ, इस तुच्छ नारी-जीवन के लिए इतने महान् उत्सर्ग की आवश्यकता नहीं।

चन्द्रगुप्त—देवि! यह तुम्हारा क्षणिक मोह है। मेरी परीक्षा न लो। मेरे शरीर ने चाहे जो रूप धारण किया हो, किन्तु हृदय निश्छल है।

ध्रुवस्वामिनी—अपनी कामना की वस्तु न पाकर यह आत्महत्या-जैसा प्रसंग तो नहीं है।

चन्द्रगुप्त—तीखे वचनों से मर्माहत करके भी आज कोई मुझे इस मृत्यु-पक्ष से विमुख नहीं कर सकता। मैं केवल अपना कर्त्तव्य करूँ, इसी में मुझे सुख है। (ध्रुवस्वामिनी संकेत करती है। शकराज का प्रवेश। दोनों चुप हो जाते हैं। वह दोनों को चकित होकर देखता है।)

शकराज—मैं किसको रानी समझूँ? रूप का ऐसा तीव्र आलोक! नहीं, मैंने कभी नहीं देखा था। इसमें कौन ध्रुवस्वामिनी है?

ध्रुवस्वामिनी—यह मैं आ गई हूँ।

चन्द्रगुप्त—(हँसकर) शकराज को तुम धोखा नहीं दे सकती हो। ध्रुवस्वामिनी कौन है? यह एक अन्धा भी बता सकता है।

ध्रुवस्वामिनी–(आश्चर्य से) चन्द्रे! तुमको क्या हो गया है? यहाँ आने पर तुम्हारी इच्छा रानी बनने की हो गई है? या मुझे शकराज से बचा लेने के लिए यह तुम्हारी स्वामिभक्ति है?

(शकराज चकित होकर दोनों की ओर देखता है)

चन्द्रगुप्त–कौन जाने तुम्हीं ऐसा कर रही हो?

ध्रुवस्वामिनी–चन्द्रे! तुम मुझे दोनों ओर से नष्ट न करो। यहाँ से लौट जाने पर भी क्या मैं गुप्तकुल के अन्त:पुर में रह पाऊँगी?

चन्द्रगुप्त–चन्द्रे कहकर मुझको पुकारने से क्या तात्पर्य है? यह अच्छा झगड़ा तुमने फैलाया। इसीलिए मैंने एकान्त में मिलने की प्रार्थना की थी।

ध्रुवस्वामिनी–तो क्या मैं यहाँ भी छली जाऊँगी

शकराज–ठहरो, (दोनों को ध्यान से देखता हुआ) क्या चिन्ता यदि मैं दोनों को ही रानी समझ लूँ

ध्रुवस्वामिनी–ऐं।

चन्द्रगुप्त–हैं।

शकराज–क्यों, इसमें क्या बुरी बात है?

चन्द्रगुप्त–जी नहीं, यह नहीं हो सकता। ध्रुवस्वामिनी कौन है? पहले इसका निर्णय होना चाहिए।

ध्रुवस्वामिनी–(क्रोध से) चन्द्रे! मेरे भाग्य के आकाश में धूमकेतु-सी अपनी गति बन्द करो।

शकराज–(धूमकेतु की ओर देखकर भयभीत-सा) ओह भयानक!

(व्यग्र भाव से टहलने लगता है।)

चन्द्रगुप्त–(शकराज की पीठ पर हाथ रखकर) सुनिए।

ध्रुवस्वामिनी–चन्द्रे!

चन्द्रगुप्त–इस धमकी से कोई लाभ नहीं।

ध्रुवस्वामिनी–तो फिर मेरा और तुम्हारा जीवन-मरण साथ ही होगा।

चन्द्रगुप्त–तो डरता कौन है? (दोनों ही शीघ्र कटार निकाल लेते हैं)

शकराज–(घबराकर) हैं, यह क्या तुम लोग क्या कर रहे हो? ठहरो आचार्य ने ठीक कहा है, आज शुभ मुहूर्त नहीं। मैं कल विश्वसनीय व्यक्ति को बुलाकर इसका निश्चय कर लूँगा। आज तुम लोग विश्राम करो।

ध्रुवस्वामिनी–नहीं, इसका निश्चय तो आज ही होना चाहिए।

शकराज–(बीच में खड़ा होकर) मैं कहता हूँ न।

चन्द्रगुप्त–वाह रे कहने वाले!

(ध्रुवस्वामिनी मानो चन्द्रगुप्त के आक्रमण से भयभीत होकर पीछे हटती है और तूर्यनाद करती है। शकराज आश्चर्य से उसे सुनता हुआ सहसा घूमकर चन्द्रगुप्त का हाथ पकड़ लेता है। ध्रुवस्वामिनी झटके से चन्द्रगुप्त का उत्तरीय खींच लेती है और चन्द्रगुप्त हाथ छुड़ाकर शकराज को घेर लेता है)

शकराज–(चकित-सा) ऐं, यह तुम कौन प्रवंचक?

चन्द्रगुप्त–मैं हूँ चन्द्रगुप्त, तुम्हारा काल। मैं अकेला आया हूँ, तुम्हारी वीरता की परीक्षा लेने। सावधान!

(शकराज भी कटार निकालकर युद्ध के लिए अग्रसर होता है। युद्ध और शकराज की मृत्यु। बाहर दुर्ग में कोलाहल। 'ध्रुवस्वामिनी की जय' का हल्ला मचाते हुए रक्तारक्त कलेवर सामन्त-कुमारों का प्रवेश। ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त को घेरकर समवेत स्वर से 'ध्रुवस्वामिनी की जय हो!')

(शक-दुर्ग के भीतर एक प्रकोष्ठ। तीन मंचों में दो खाली और एक पर ध्रुवस्वामिनी पादपीठ के ऊपर बाएँ पैर पर दाहिना पैर रखकर अधरों से उँगली लगाए चिन्ता में निमग्न बैठी है। बाहर कुछ कोलाहल होता है।)

सैनिक–(प्रवेश करके) महादेवी की जय हो!

ध्रुवस्वामिनी–(चौंककर) क्या!

सैनिक–विजय का समाचार सुनकर राजाधिराज भी दुर्ग में आ गए हैं। अभी तो वे सैनिकों से बातें कर रहे हैं। उन्होंने पूछा है, महादेवी कहाँ हैं? आपकी जैसी आज्ञा हो, क्योंकि कुमार ने कहा है। !

ध्रुवस्वामिनी–क्या कहा है? यही न कि मुझसे पूछकर राजा यहाँ आने पावें? ठीक है, अभी मैं बहुत थकी हूँ। (सैनिक जाने लगता है, उसे रोककर) और सुनो तो! तुमने यह नहीं बताया कि कुमार के घाव अब कैसे हैं?

सैनिक–घाव चिन्ताजनक नहीं हैं। उन पर पट्टियाँ बँध चुकी हैं। कुमार प्रधान-मंडप में विश्राम कर रहे हैं।

ध्रुवस्वामिनी–अच्छा जाओ। (सैनिक का प्रस्थान)

मन्दाकिनी–(सहसा प्रवेश करके) भाभी! बधाई है। (जैसे–भूलकर गई हो) नहीं, नहीं! महादेवी, क्षमा कीजिए।

ध्रुवस्वामिनी–मन्दा! भूल से ही तुमने आज एक प्यारी बात कह दी। उसे क्या लौटा लेना चाहती हो? आह! यदि वह सत्य होती?

(पुरोहित का प्रवेश)

मन्दाकिनी–क्या इसमें भी सन्देह है?

ध्रुवस्वामिनी–मुझे तो सन्देह का इन्द्रजाल ही दिखाई पड़ रहा है। मैं न तो महादेवी हूँ और न तुम्हारी भाभी (पुरोहित को देखकर चुप हो जाती है)।

पुरोहित–(आश्चर्य से इधर-उधर देखता हुआ) तब मैं क्या करूँ?

मन्दाकिनी–क्यों, आपको कुछ कहना है क्या?

पुरोहित–ऐसे उपद्रवों के बाद शान्तिकर्म होना आवश्यक है। इसीलिए मैं स्वस्त्ययन करने आया था, किन्तु आप तो कहती हैं कि मैं महादेवी ही नहीं हूँ।

ध्रुवस्वामिनी–(तीखे स्वर में) पुरोहित जी! मैं राजनीति नहीं जानती, किन्तु इतना समझती हूँ कि जो रानी शत्रु के लिए उपहार में भेज दी जाती है, वह महादेवी की उच्च पदवी से पहले ही वंचित हो गई होगी।

मन्दाकिनी–किन्तु आप तो भाभी होना भी अस्वीकार करती हैं।

ध्रुवस्वामिनी–भाभी कहने का तुम्हें रोग हो तो कह लो। क्योंकि इन्हीं पुरोहितजी ने उस दिन कुछ मन्त्रों को पढ़ा था। उस दिन के बाद मुझे कभी राजा से सरल सम्भाषण करने का अवसर ही न मिला। हाँ, न जाने मेरे किस अपराध पर सन्दिग्ध-चित्त होकर उन्होंने जब मुझे निर्वासित किया, तभी मैंने अपने स्त्री होने के अधिकार की रक्षा की भीख माँगी थी। वह भी न मिली और में बलि-पशु की तरह, अकरुण आज्ञा की डोरी में बँधी हुई शकदुर्ग में भेज दी गई। तब भी तुम मुझे भाभी कहना चाहती हो?

मन्दाकिनी–(सिर झुकाकर) यह गर्हित और ग्लानि-जनक प्रसंग है।

पुरोहित–यह मैं क्या सुन रहा हूँ? मुझे तो यह जानकर प्रसन्नता हुई थी कि वीर रमणी की तरह अपने साहस के बल पर महादेवी ने इस दुर्ग पर अपना अधिकार किया है।

ध्रुवस्वामिनी–आप झूठ बोलते हैं।

पुरोहित–(आश्चर्य से) मैं और झूठ!

ध्रुवस्वामिनी–हाँय आप और झूठ, नहीं, स्वयं आप ही मिथ्या है।

पुरोहित–(हँसकर) क्या आप वेदान्त की बात कहती हैं? तब तो संसार मिथ्या है ही।

ध्रुवस्वामिनी–(क्रोध से) संसार मिथ्या है या नहीं, यह तो मैं नहीं जानती, परन्तु आप, आपका कर्मकाण्ड और आपके शास्त्र क्या सत्य हैं, जो सदैव रक्षणीया स्त्री की यह दुर्दशा हो रही है?

पुरोहित–(मन्दाकिनी से) बेटी! तुम्ही बताओ, यह मेरा भ्रम है या महादेवी का रोष!

ध्रुवस्वामिनी–रोष है, हाँ, में रोष से जली जा रही हूँ। इतना बड़ा उपहास – धर्म के नाम पर स्त्री-आज्ञाकारिता की यह पैशाचिक परीक्षा मुझसे बलपूर्वक ली गई है। पुरोहित! तुमने जो मेरा राक्षस-विवाह कराया है, उसका उत्सव भी कितना सुन्दर है! यह जन संहार देखो, अभी उस प्रकोष्ठ में रक्त सनी हुई शकराज की लोथ पड़ी होगी। कितने ही सैनिक दम तोड़ते होंगे और इस रक्तधारा में तिरती हुई मैं राक्षसी-सी साँस ले रही हूँ। तुम्हारा स्वस्त्ययन मुझे शान्ति देगा?

मन्दाकिनी–आर्य! आप बोलते क्यों नहीं? आप धर्म के नियामक हैं। जिन स्त्रियों को धर्म-बन्धन में बाँधकर, उनकी सम्मति के बिना आप उनका सब अधिकार छीन लेते हैं, तब क्या धर्म के पास कोई प्रतिकार – कोई संरक्षण नहीं रख छोड़ते, जिससे वे स्त्रियाँ अपनी आपत्ति में अवलम्ब माँग सकें? क्या भविष्य के सहयोग की कोरी कल्पना से उन्हें आप सन्तुष्ट रहने की आज्ञा देकर विश्राम ले लेते हैं?

पुरोहित–नहीं, स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वासपूर्ण अधिकार रक्षा और सहयोग ही तो विवाह कहा जाता है। यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह खेल है।

ध्रुवस्वामिनी–खेल हो या न हो, किन्तु एक क्लीव पति के द्वारा परित्यक्ता नारी का मृत्युमुख में जाना ही मंगल है। उसे स्वस्त्ययन और शान्ति की आवश्यकता नहीं।

पुरोहित–(आश्चर्य से) यह मैं क्या सुन रहा हूँ? विश्वास नहीं होता। यदि ये बातें सत्य हैं, तब तो मुझे फिर से एक बार धर्मशास्त्र को देखना पड़ेगा। (प्रस्थान)

(मिहिरदेव के साथ कोमा का प्रवेश)

ध्रुवस्वामिनी–तुम लोग कौन हो?

कोमा–मैं पराजित शक-जाति की एक बालिका हूँ।

ध्रुवस्वामिनी–और।

कोमा–और मैंने प्रेम किया था।

ध्रुवस्वामिनी–इस घोर अपराध का तुम्हें क्या दंड मिला?

कोमा–वही, जो स्त्रियों का प्रायः मिला करता है-निराशा! निष्पीड़न! और उपहास!! रानी, मैं तुमसे भीख माँगने आई हूँ।

ध्रुवस्वामिनी–शत्रुओं के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। अधिक हठ करने पर दण्ड मिलना भी असम्भव नहीं।

मिहिरदेव–(दीर्घ निःश्वास लेकर) पागल लड़की, हो चुका न? अब भी तू न चलेगी?

(कोमा सिर झुका लेती है)

मन्दाकिनी–तुम चाहती क्या हो?

कोमा–रानी, तुम भी स्त्री हो। क्या स्त्री का व्यथा न समझोगी? आज तुम्हारी विजय का अन्धकार तुम्हारे शाश्वत स्त्रीत्व को ढँक ले, किन्तु सबके जीवन में एक बार प्रेम की दीपावली जलती है। जली होगी अवश्य। तुम्हारे भी जीवन में वह आलोक का महोत्सव आया होगा, जिसमें हृदय, हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है, उदार बनता है और सर्वस्व दान करने का उत्साह रखता है। मुझे शकराज का शव चाहिए।

ध्रुवस्वामिनी–(सोचकर) जलो, प्रेम के नाम पर जलना चाहती हो तो तुम उस शव को ले जाकर जलो, जीवित रहने पर मालूम होता है कि तुम्हें अधिक शीतलता मिल चुकी है। अवश्य तुम्हारा जीवन धन्य है। (सैनिक से) इसे ले जाने दो।

(कोमा का प्रस्थान)

मन्दाकिनी–स्त्रियों के इस बलिदान का भी कोई मूल्य नहीं। कितनी असहाय दशा है। अपने निर्बल और अवलम्बन खोजने वाले हाथों से यह पुरुषों के चरणों को पकड़ती हैं और वह सदैव ही इनको तिरस्कार, घृणा और दुर्दशा की भिक्षा से उपकृत करता है। तब भी यह बावली मानती है

ध्रुवस्वामिनी–भूल है - भ्रम है। (ठहरकर) किन्तु उसका कारण भी है। पराधीनता की एक परम्परा-सी उनकी नस-नस में - उनकी चेतना में न जाने किस युग से घुस गई है। उन्हें समझकर भी भूल करनी पड़ती है। क्या वह मेरी भूल न थी - जब मुझे निर्वासित किया गया, तब मैं अपनी आत्म-मर्यादा के लिए कितनी तड़प रही थी और राजाधिराज रामगुप्त के चरणों में रक्षा के लिए गिरी, पर कोई उपाय चला नहीं। पुरुषों की प्रभुता का जाल मुझे अपने निर्दिष्ट पथ पर ले ही आया। मन्दा! दुर्ग की विजय मेरी सफलता है या मेरा दुर्भाग्य, इसे मैं नहीं समझ सकी हूँ। राजा से मैं सामना करना नहीं चाहती। पृथ्वीतल से जैसे–एक साकार घृणा निकलकर मुझे अपने पीछे लौट चलने का संकेत कर रही है। क्यों, क्या यह मेरे मन का कलुष है? क्या मैं मानसिक पाप कर रही हूँ?

(उन्मत्त भाव से प्रस्थान)

मन्दाकिनी–नारी हृदय, जिसके मध्य-विन्दु से हटकर, शास्त्र का एक मन्त्र, कील की तरह गड़ गया है और उसे अपने सरल प्रवर्तन-चक्र में घूमने से रोक रहा है, निश्चय ही वह कुमार चन्द्रगुप्त की अनुरागिनी है।

चन्द्रगुप्त–(सहसा प्रवेश करके) कौन? मन्दा!

मन्दाकिनी–अरे कुमार! अभी थोड़ा विश्राम करते।

चन्द्रगुप्त–(बैठते हुए) विश्राम! मुझे कहाँ विश्राम? मैं अभी यहाँ से प्रस्थान करने वाला हूँ। मेरा कर्तव्य पूर्ण हो चुका। अब यहाँ मेरा ठहरना अच्छा नहीं।

मन्दाकिनी–किन्तु भाभी की जो बुरी दशा है।

चन्द्रगुप्त–क्यों, उन्हें क्या हुआ? (मन्दाकिनी चुप रहती है) बोलो, मुझे अवकाश नहीं! राजाधिराज का सामना होते ही क्या हो जाएगा - मैं नहीं कह सकता। क्योंकि अब यह राजनीतिक छल-प्रपंच मैं नहीं सह सकता।

मन्दाकिनी–किन्तु उन्हें इस असहाय अवस्था में छोड़कर आपका जाना क्या उचित होगा और (चुप रह जाती है)

चन्द्रगुप्त–और क्या... वह क्यों नहीं कहती हो?

मन्दाकिनी–तो क्या उसे भी कहना होगा? महादेवी बनने के पहले ध्रुवस्वामिनी का जो मनोभाव था, वह क्या आपसे छिपा है?

चन्द्रगुप्त–किन्तु मन्दाकिनी! उसकी चर्चा करने से क्या लाभ?

मन्दाकिनी–हृदय में नैतिक साहस - वास्तविक प्रेरणा और पौरुष की पुकार एकत्र करके सोचिए तो कुमार, कि अब आपको क्या करना चाहिए (चन्द्रगुप्त चिन्तित भाव से टहलने लगता है। नेपथ्य में कुछ लोगों के आने-जाने का शब्द और कोलाहल) देखूँ तो यह क्या है और महादेवी कहाँ गयीं? (प्रस्थान)

चन्द्रगुप्त–विधान की स्याही का एक बिन्दु गिरकर भाग्य-लिपि पर कालिमा चढ़ा देता है। मैं आज यह स्वीकार करने सें भी संकुचित हो रहा हूँ कि ध्रुवस्वामिनी मेरी है। (ठहरकर) हाँ, वह मेरी है, उसे मैंने आरम्भ से ही अपनी सम्पूर्ण भावना से प्यार किया है। मेरे हृदय के गहन अन्तस्थल से निकली हुई यह मूक स्वीकृति आज बोल रही है। मैं पुरुष हूँ? नहीं, मैं अपनी आँखों से अपना वैभव और अधिकार दूसरों को अन्याय से छीनते देख रहा हूँ और मेरी वाग्दत्ता पत्नी मेरे ही अनुत्साह से आज मेरी नहीं रही। नहीं, यह शील का कपट, मोह

और प्रवंचना है। मैं जो हूँ, वही तो नहीं स्पष्ट रूप से प्रकट कर सका। यह कैसी विडम्बना है! विनय के आवरण में मेरी कायरता अपने को कब तक छिपा सकेगी?

(एक ओर से मन्दाकिनी का प्रवेश)

मन्दाकिनी–शकराज का शव लेकर जाते हुए आचार्य और उसकी कन्या का राजाधिकार के साथी सैनिकों ने वध कर डाला!

ध्रुवस्वामिनी–(दूसरी ओर से प्रवेश करके) ऐं!

(सामन्त-कुमारों का प्रवेश)

सामन्त कुमार–(सब एक साथ ही) स्वामिनी! आपकी आज्ञा के विरुद्ध राजाधिकार ने निरीह शकों का संहार करवा दिया है।

ध्रुवस्वामिनी–फिर आप लोग इतने चंचल क्यों हैं? राजा को आज्ञा देनी चाहिए और प्रजा को नत-मस्तक होकर उसे मानना होगा।

सामन्त कुमार–किन्तु अब वह असह्य है। राजसत्ता के अस्तित्व की घोषणा के लिए इतना भयंकर प्रदर्शन! मैं तो कहूँगा, इस दुर्ग में, आपकी आज्ञा के बिना राजा का आना अन्याय है।

ध्रुवस्वामिनी–मेरे वीर सहायको! मैं तो स्वयं एक परित्यक्ता और हतभागिनी स्त्री हूँ। मुझे तो अपनी स्थिति की कल्पना से भी क्षोभ हो रहा है। मैं क्या कहूँ?

सामन्त-कुमार–मैं सच कहता हूँ, रामगुप्त जैसे–राजपद को कलुषित करने वाले के लिए मेरे हृदय में तनिक भी श्रद्धा नहीं। विजय का उत्साह दिखाने यहाँ वे किस मुँह से आऐ, जो हिंसक, पाखण्डी, क्षीव और क्लीव हैं।

रामगुप्त–(सहसा शिखरस्वामी के साथ प्रवेश करके) क्या कहा? फिर से तो कहना!

सामन्त कुमार–गुप्त-काल के गौरव का कलंक-कालिमा के सागर में निमज्जित करने वाले !

शिखरस्वामी–(उसे बीच में ही रोककर) चुप रहो! क्या तुम लोग किसी के बहकाने से आवेश में आ गए हो? (चन्द्रगुप्त की ओर देखकर) कुमार! यह क्या हो रहा है?

(चन्द्रगुप्त उत्तर देने की चेष्टा करके चुप रह जाता है।)

रामगुप्त–दुर्विनीत, पाखण्डी, पामरो! तुम्हें इस धृष्टता का क्रूर दण्ड भोगना पड़ेगा। (नेपथ्य की ओर देखकर) इन विद्रोहियों को वंदी करो।

(रामगुप्त के सैनिक आकर सामान्त-कुमारों को बन्दी बनाते हैं। रामगुप्त का संकेत पाकर सैनिक लोग चन्द्रगुप्त की ओर भी बढ़ते हैं और चन्द्रगुप्त शृंखला में बँध जाता है।)

ध्रुवस्वामिनी—कुमार! मैं कहती हूँ कि तुम प्रतिवाद करो। किस अपराध के लिए यह दण्ड ग्रहण कर रहे हो?

(चन्द्रगुप्त एक दीर्घ निःश्वास लेकर चुप रह जाता है)

रामगुप्त—(हँसकर) कुचक्र करने वाले क्या बोलेंगे?

ध्रुवस्वामिनी—और जो लोग बोल सकते हैं, जो अपनी पवित्रता की दुन्दुभी बजाते हैं, वे सब-के-सब साधु होते हैं न? (चन्द्रगुप्त से) कुमार! तुम्हारी जिह्वा पर कोई बन्धन नहीं। कहते क्यों नहीं कि मेरा यही अपराध है कि मैंने कोई अपराध नहीं किया?

रामगुप्त—महादेवी!

ध्रुवस्वामिनी—(उसे न सुनते हुए चन्द्रगुप्त से) झटक दो इन लौह-शृंखलाओं को! यह मिथ्या ढोंग कोई नहीं सहेगा। तुम्हारा क्रुद्ध दुर्दैव भी नहीं।

रामगुप्त—(डाँटकर) महादेवी! चुप रहो!

ध्रुवस्वामिनी—(तेजस्विता से) कौन महादेवी! राजा, क्या अब भी मैं महादेवी ही हूँ? जो शकराज की शय्या के लिए क्रीतदासी की तरह भेजी गई हो, वह भी महादेवी! आश्चर्य!

शिखरस्वामी—देवि, इस राजनीतिक चातुरी में जो सफलता।

ध्रुवस्वामिनी—(पैर पटककर) चुप रहो प्रवंचना के पुतले! स्वार्थ से घृणित प्रपंच! चुप रहो।

रामगुप्त—तो तुम महादेवी नहीं हो न?

ध्रुवस्वामिनी—नहीं! मनुष्य की दी हुई मैं उपाधि लौटा देती हूँ।

रामगुप्त—और मेरी सहधर्मिणी?

ध्रुवस्वामिनी—धर्म ही इसका निर्णय करेगा।

रामगुप्त—ऐं, क्या इसमें भी सन्देह!

ध्रुवस्वामिनी—उसे अपने हृदय से पूछिए कि क्या मैं वास्तव में सहधर्मिणी हूँ?

(पुरोहित का प्रवेश। सामने सबको देखकर चौंक उठता है। शिखरस्वामी चले जाने का संकेत करता है।)

पुरोहित—नहीं, मैं नहीं जाऊँगा। प्राणि-मात्र के अन्तस्थल में जाग्रत रहने वाले महान् विचारक धर्म की आज्ञा मैं न टाल सकूँगा। अभी जो प्रश्न अपनी गम्भीरता में भीषण होकर आप लोगों को विचलित कर रहा है, मैं ही उसका उत्तर देने का अधिकारी हूँ। विवाह का धर्मशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ध्रुवस्वामिनी—आप सत्यवादी ब्राह्मण हैं। कृपा करके बतलाइए।

शिखरस्वामी—(विनय से उसे रोककर) मैं समझता हूँ कि यह विवाद अधिक बढ़ाने से कोई लाभ नहीं!

ध्रुवस्वामिनी—नहीं, मेरी इच्छा इस विवाद का अन्त करने की है। आज यह निर्णय हो जाना चाहिए कि मैं कौन हूँ?

रामगुप्त—ध्रुवस्वामिनी, निर्लज्जता की भी एक सीमा होती है।

ध्रुवस्वामिनी—मेरी निर्लज्जता का दायित्व क्लीव कापुरुष पर है। स्त्री की लज्जा लूटने वाले उस दस्यु के लिए मैं।

रामगुप्त—(रोककर) चुप रहो! तुम्हारा पर-पुरुष में अनुरक्त हृदय अत्यन्त कलुषित हो गया है। तुम काल-सर्पिणी-सी स्त्री! ओह, तुम्हें धर्म का तनिक भी भय नहीं! शिखर! इस भी वंदी करो।

पुरोहित—ठहरिए! महाराज ठहरिए!! धर्म की ही बात मैं सोच रहा था।

शिखरस्वामी—(क्रोध से) मैं कहता हूँ कि तुम चुप न रहोगे तो तुम्हारी भी यही दशा होगी।

(सैनिक आगे बढ़ता है)

मन्दाकिनी—(उसे रोककर) महाराज, पुरुषार्थ का इतना बड़ा प्रहसन! अबला पर ऐसा अत्याचार!! यह गुप्त-सम्राट् के लिए शोभा नहीं देता।

रामगुप्त—(सैनिकों से) क्या देखते हो जी!

(सैनिक आगे बढ़ता है और चन्द्रगुप्त आवेश में आकर लौह-शृंखला तोड़ डालता है। सब आश्चर्य और भय से देखते हैं।)

चन्द्रगुप्त—मैं भी आर्य समुद्रगुप्त का पुत्र हूँ। और शिखरस्वामी, तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि मैं ही उनके द्वारा निर्वाचित युवराज भी हूँ। तुम्हारी नीचता अब असह्य है। तुम अपने राजा को लेकर इस दुर्ग से सकुशल बाहर चले जाओ। यहाँ अब मैं ही शकराज के समस्त अधिकारों का स्वामी हूं।

रामगुप्त—(भयभीत होकर चारों ओर देखता हुआ) क्या?

ध्रुवस्वामिनी—(चन्द्रगुप्त से) यही तो कुमार!

चन्द्रगुप्त—(सैनिक से डपटकर) इन सामन्त-कुमारों को मुक्त करो।

(सैनिक वैसा ही करते हैं और शिखरस्वामी के संकेत से रामगुप्त धीरे-धीरे भय से पीछे हटता हुआ बाहर चला जाता है।)

शिखरस्वामी—कुमार! इस कलह को मिटाने के लिए हम लोगों को परिषद् का निर्णय माननीय होना चाहिए। मुझे आपके आधिपत्य से कोई विरोध नहीं है, किन्तु सब काम विधान के अनुकुल होना चाहिए। मैं कुल-वृद्धों को और सामन्तों को, जो यहाँ उपस्थित हैं, लिवा लाने जाता हूँ।

(सैनिक लोग और भी मंच ले आते हैं और सामन्त-कुमार अपने खंगों को खींचकर चन्द्रगुप्त के पीछे खड़े हो जाते हैं। ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त परस्पर एक-दूसरे को देखते हुए खड़े रहते हैं। परिषद् के साथ रामगुप्त का प्रवेश। सब लोग मंच पर बैठते हैं।)

पुरोहित—कुमार! आसन ग्रहण कीजिए।

चन्द्रगुप्त—मैं अभियुक्त हूँ।

शिखरस्वामी—बीती हुई बातों को भूल जाने में ही भलाई है। भाई-भाई की तरह गले से लगकर गुप्त कुल का गौरव बढ़ाइए।

चन्द्रगुप्त—अमात्य, तुम गौरव किसको कहते हो? वह है कहीं रोग-जर्जर शरीर अलंकारों की सजावट, मलिनता और कलुष की ढेरी पर बाहरी कुमकुम-केसर का लेप गौरव नहीं बढ़ता। कुटिलता की प्रतिमूर्ति, बोलो! मेरी वाग्दत्ता पत्नी और पिता द्वारा दिए हुए मेरे सिंहासन का अपहरण किसके संकेत से हुआ और छल से।

रामगुप्त—यह उन्मत्त प्रलाप बन्द करो। चन्द्रगुप्त, तुम मेरे भाई ही हो न! मैं तुमको क्षमा करता हूँ।

चन्द्रगुप्त—मैं उसे माँगता नहीं और क्षमा देने का अधिकार भी तुम्हारा नहीं रहा। आज तुम राजा नहीं हो। तुम्हारे पाप प्रायश्चित की पुकार कर रहे हैं। न्यायपूर्ण निर्णय के लिए प्रतीक्षा करो और अभियुक्त बनकर अपने अपराधों को सुनो।

मन्दाकिनी—(ध्रुवस्वामिनी को आगे खींचकर) यह है गुप्तकुल की वधू।

रामगुप्त—मन्दा।

मन्दाकिनी—राजा का भय मंदा का गला नहीं घोंट सकता। तुम लोगों को यदि कुछ भी बुद्धि होती, तो इस अपनी कुल-मर्यादा, नारी को शत्रु के दुर्ग में यों न भेजते। भगवान् ने स्त्रियों को उत्पन्न करके ही अधिकारों से वंचित नहीं किया है, किन्तु तुम लोगों की दस्युवृत्ति ने उन्हें लूटा है। इस परिषद् से मेरी

प्रार्थना है कि आर्य समुद्रगुप्त का विधान तोड़कर जिन लोगों ने राजकिल्विष किया हो उन्हें दण्ड मिलना चाहिए।

शिखरस्वामी–तुम क्या कह रही हो?

मन्दाकिनी–मैं तुम लोगों की नीचता की गाथा सुन रही हूँ। अनार्य! सुन नहीं सकते? तुम्हारी प्रवंचनाओं ने जिस नरक की सृष्टि की है उनका अन्त समीप है। यह साम्राज्य किसका है? आर्य समुद्रगुप्त ने किसे युवराज बनाया था? चन्द्रगुप्त को या इस क्लीव रामगुप्त को जिसने छल और बल से विवाह करके भी इस नारी को अन्य पुरुष की अनुरागिनी बताकर दण्ड देने के लिए आज्ञा दी है। वही रामगुप्त, जिसने कापुरुषों की तरह इस स्त्री को शत्रु के दुर्ग में बिना विरोध किये भेज दिया था, तुम्हारे गुप्त-सम्राज्य का सम्राट् है। और यह ध्रुवस्वामिनी! जिसे कुछ दिनों तक तुम लोगों ने महादेवी कहकर सम्बोधित किया है, वह क्या है? कौन है? और उसका कैसा अस्तित्व है? कहीं धर्मशास्त्र हो तो उसका मुँह खुलना चाहिए।

पुरोहित–शिखर, मुझे अब भी बोलने दोगे या नहीं? मैं राज्य के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना चाहता। वह तुम्हारी राजनीति जाने, किन्तु इस विवाह के सम्बन्ध में तो मुझे कुछ कहना ही चाहिए।

एक वृद्ध–कहिए देव, आप ही तो धर्मशास्त्र के मुख हैं।

पुरोहित–विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रान्तिपूर्ण बन्धन में बाँध दिया है। धर्म का उद्देश्य इस तरह पद दलित नहीं किया जा सकता। माता और पिता के प्रमाण के कारण से धर्म-विवाह केवल परस्पर द्वेष से टूट नहीं सकतेय परन्तु यह सम्बन्ध उस प्रमाणों से भी विहीन है और भी (रामगुप्त को देखकर) यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं, पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राजकिल्विषी क्लीव है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं।

रामगुप्त–(खड़ा होकर क्रोध से) मूर्ख! तुमको मृत्यु का भय नहीं!

पुरोहित–तनिक भी नहीं। ब्राह्मण केवल धर्म से भयभीत है। अन्य किसी भी शक्ति को वह तुच्छ समझता है। तुम्हारे बधिक मुझे धार्मिक सत्य कहने से रोक नहीं सकते। उन्हें बुलाओ, मैं प्रस्तुत हूँ।

मन्दाकिनी–धन्य हो ब्रह्मदेव!

शिखरस्वामी–किन्तु निर्भीक पुरोहित, तुम क्लीव शब्द का प्रयोग कर रहे हो!

पुरोहित–(हँसकर) राजनीतिक दस्यु! तुम शास्त्रार्थ न करो। क्लीव! श्रीकृष्ण ने अर्जुन को क्लीव किसलिए कहा? जिसे अपनी स्त्री को दूसरे की अंगगामिनी बनने के लिए भेजने में कुछ संकोच नहीं, वह क्लीव नहीं तो और क्या है? मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है।

परिषद् के सब लोग–अनार्य, पतित और क्लीव रामगुप्त, गुप्त-साम्राज्य के पवित्र राज्य-सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं।

रामगुप्त–(सशंक और भयभीत-सा इधर-उधर देखकर) तुम सब पाखण्डी हो, विद्रोही हो। मैं अपने न्यायपूर्ण अधिकार को तुम्हारे-जैसे–कुत्तों को भौंकने पर न छोड़ दूँगा।

शिखरस्वामी–किन्तु परिषद् का विचार तो मानना ही होगा।

रामगुप्त–(रोने के स्वर में) शिखर! तुम भी ऐसे कहते हो? नहीं, मैं यह न मानूँगा।

ध्रुवस्वामिनी–राम! तुम अभी इस दुर्ग के बाहर जाओ।

रामगुप्त–ऐं? यह परिवर्तन? तो मैं सचमुच क्लीव हूँ क्या?

(धीरे-धीरे हटता हुआ चन्द्रगुप्त के पीछे पहुँचकर उसे कटार निकालकर मारना चाहता है। चन्द्रगुप्त को विपिन्न देखकर कुछ लोग चिल्ला उठते हैं। जब तक चन्द्रगुप्त घूमता है, तब तक एक सामन्त-कुमार रामगुप्त पर प्रवाह करके चन्द्रगुप्त की रक्षा कर लेता है। रामगुप्त गिर पड़ता है।)

सामन्त-कुमार–राजाधिराज चन्द्रगुप्त की जय!

परिषद्–महादेवी ध्रुवस्वामिनी की जय!

6

संस्कृत नाटक

संस्कृत नाटक रसप्रधान होते हैं। इनमें समय और स्थान की अन्विति नहीं पाई जाती।

अपनी रचना-प्रक्रिया में नाटक मूलत: काव्य का ही एक प्रकार है। सूसन के लैंगर के अनुसार भी नाटक रंगमंच का काव्य ही नहीं, रंगमंच में काव्य भी है। संस्कृत नाट्यपरम्परा में भी नाटक काव्य है और एक विशेष प्रकार का काव्य है, दृश्यकाव्य। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' कहकर उसकी विशिष्टता ही रेखांकित की गयी है।

लेखन से लेकर प्रस्तुतीकरण तक नाटक में कई कलाओं का संश्लिष्ट रूप होता है-तब कहीं वह अखण्ड सत्य और काव्यात्मक सौन्दर्य की विलक्षण सृष्टि कर पाता है। रंगमंच पर भी एक काव्य की सृष्टि होती है, विभिन्न माध्यमों से, कलाओं से जिससे रंगमंच एक कार्य का, कृति का रूप लेता है। आस्वादन और सम्प्रेषण दोनों साथ-साथ चलते हैं। अनेक प्रकार के भावों, अवस्थाओं से युक्त, रस भाव, क्रियाओं के अभिनय, कर्म द्वारा संसार को सुख-शान्ति देने वाला यह नाट्य इसीलिए हमारे यहाँ विलक्षण कृति माना गया है।

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्य को तीनों लोकों के विशाल भावों का अनुकीर्तन कहा है तथा इसे सार्ववर्णिक पंचम वेद बतलाया है। भरत के अनुसार ऐसा कोई ज्ञान शिल्प, विद्या, योग एवं कर्म नहीं है, जो नाटक में दिखाई न पड़े -

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्ऽयेस्मिन् यन्न दृष्यते।।

संस्कृत नाटक विकास

संस्कृत नाट्य साहित्य का विकास क्रमशः वैदिककाल से ही प्रारंभ हो गया था। इस संदर्भ में प्रो. इन्द्रपाल सिंह ''इन्द्र'' का कथन उल्लेखनीय है - वेदों में ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं, जिनसे वैदिककाल में नाट्कों की स्थिति सिद्ध होती है। ऋग्वेद के सूक्तों में सोमविक्रय के समय होने वाले अभिनय का पता चलता है। महाव्रत स्रोत के अवसर पर कुमारियाँ नृत्य गान के साथ अग्नि की परिक्रमा करती थी। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेय संहिता के तीसवें अध्याय की छठी कण्डिका में ''शैलूष'' शब्द आया है, जिसका अर्थ है- अभिनेता। कहा जाता है कि एक सूत को नृत्य के लिए और शैलूष को गाने के लिये नियुक्त किया जाना चाहिये। सामवेद के स्रोत रागबद्ध हैं ही, जिससे ज्ञात होता है कि वैदिक युग में संगीत पूर्ण विकासावस्था में था। संगीत के अलावा नृत्य तथा वाद्य के भी संकेत प्राप्त होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक युग में वे सभी उपादान प्रचुर मात्रा में पाये जाते थे, जो नाटक के विकास के लिए अपेक्षित हैं।

वेदों के पश्चात् रामायण एवं महाभारत में भी नाटक के संकेत प्राप्त होते हैं। महाभारत में ''रामायण नाटक'' तथा ''कौबेर रंगाभिसार'' नामक नाटकों के नाम आये हैं। महाभारत के विराट पर्व में रंगशाला तथा नट का प्रयोग है। रामायण में भी ''नट'', ''नाटक'', ''रंग'' तथा नर्तक का अनेक स्थानों पर उल्लेख प्राप्त होता है। पाणिनि ने भी 'अष्टाध्यायी'' में पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' द्वारा नाटकों की पूर्व रचना का आभास दिया है।

चतुर्थ शती ई.पूर्व के कौटिल्यीय ''अर्थशास्त्र'' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि नट, नर्तक, गायक, वादक, प्लवक, कुशीलव, सौमित्र तथा चारण आदि नाटकादि करके अपना जीवकोपार्जन करते थे। बौद्ध ग्रन्थों में ''विनयपिटक'' के ''चुल्लवग्ग'' में एक कथा है कि अश्वजित तथा पुनर्वसु अभिनय देखने के पश्चात् नर्तकी के साथ प्रेमालाप कर रहे थे तो उन्हें महास्थविर ने विहार से तत्काल निष्कासित कर दिया था। अतएव इस समय में भी नाट्यकला भारतव्यापी हो गई थी।

पतंजलि ने ''महाभाष्य'' में ''कंसवध'' तथा ''बलिबन्ध'' दो नाटकों का नामोल्लेख किया है। महाभाष्य में ''रसिको नटः'' पद सिद्ध करता है कि पतंजलि के समय रस सिद्धान्त का पूर्ण ज्ञान था।

उक्त विवरण से सिद्ध होता है कि नाटकों की उत्पत्ति भारत में हुई तथा वह वैदिक काल से ही क्रमषः विकसित होता हुआ अपने उन्नत स्वरूप को प्राप्त हुआ। वर्तमान में उपलब्ध जो रूपक हैं, उनमें नाटककार भासविरचित रूपक सबसे प्राचीन है - ऐसी अधिकांश विद्वानों की मान्यता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि भास संस्कृत नाट्य साहित्य के आद्य नाटककार हैं।

संस्कृत नाटक की विषेषताएँ

संस्कृत साहित्य के प्रमुख नाटकों का अध्ययन करने पर उनकी निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं–

1. संस्कृत नाटकों में वस्तु, नेता एवं रस इन तत्वों को प्रमुख स्थान दिया गया है। इन्हीं तत्वों के आधार पर रुपकों का विभाजन किया गया है - ''वस्तु नेता रसस्तेषां भेदक'।" रूपक के दस भेद हैं, जिनमें नाटक प्रथम भेद है।
2. जहाँ तक कथावस्तु का सम्बन्ध है, अधिकांश नाटकों की कथावस्तु ऐतिहासिक एवं पौराणिक है। रामायण एवं महाभारत की कथावस्तु को आधार बनाकर अधिकांश नाटक लिखे गये हैं।
3. जहाँ तक नेता अथवा पात्रों का सम्बन्ध है, कथावस्तु के अनुरूप ही पात्रों को रखा गया है। कुछ नाटक ऐसे भी हैं, जिनमें समाज के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व है, जैसे–शूद्रकविरचित ''मृच्छकटिक''।
4. उक्त तीनों तत्वों में भी रस को सर्वाधिक प्रधानता दी गई है। संस्कृत नाटककारों द्वारा कथावस्तु की यथार्थता की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया है, जितना प्रेक्षकों अथवा पाठकों के हृदय में किसी रस विषेष का संचार करने की ओर। कवि की सफलता का मानदण्ड रसाभिव्यक्ति का माना गया है। रस को ही नाट्यकला का प्रधान लक्ष्य माना गया। श्रृंगार अथवा वीर रस में से किसी एक को प्रधान रस इन नाटकों में माना गया है, शेष सहायक रसों के रूप में प्रयुक्त हुये हैं।
5. नाट्यशास्त्रीय नियमानुसार अधिकांश संस्कृत नाटकों का नान्दी पाठ प्रस्तावना (स्थापना) आदि से प्रारंभ किया गया है तथा ''भरतवाक्य'' से समाप्ति की गई है।
6. 5 से लेकर 7 अंकों तक की संख्या इन प्रमुख संस्कृत नाटकों की है। अधिकांश नाटक 6 व 7 अंकों के हैं।

7. संस्कृत नाटकों में पात्रनुसार भाषा का प्रयोग हुआ है। उत्तम कोटि के पात्र संस्कृत का प्रयोग करते हैं तथा अन्य पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं।
8. संस्कृत नाटकों का प्रधान गुण अभिनेयता है। इनकी संवाद योजना अत्यन्त आकर्षक है, परन्तु अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट समय एवं स्थान की अन्विति (Unities of Time and place) का प्रायः इन नाटकों में अभाव है, क्योंकि अनेक संस्कृत नाटकों में काव्यत्व पक्ष बलवान् हो गया है।
9. अधिकांश संस्कृत नाटक सुखान्त लिखे गये हैं। परन्तु यह कथन युक्तिसंगत नहीं कि संस्कृत में दुःखान्त नाटकों का नितान्त अभाव है। यदि दुःखान्त नाटक का अर्थ नायक के शोक, पराभव और मृत्यु का चित्रण करना है तो इस दृष्टि से ''कर्णभार'', ''उरुभंग'', वेणीसंहार और चण्डकौशिक निष्चित रूप से दुःखान्त नाटक माने जाने चाहिये।
10. नायक एवं नायिका के अतिरिक्त विदूषक की भी संस्कृत नाटकों में महत्त्वपूर्ण भूमिका है।
11. संस्कृत नाटकों में प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध दृष्टिगत होता है। अन्तः प्रकृति एवं बाह्य प्रकृति का इन नाटकों में सुन्दर समन्वय किया गया है। अन्तः प्रकृति की सूक्ष्म एवं सुकुमार भावनाओं के चित्रण के लिए बाह्य प्रकृति चित्रफलक का कार्य करती है। प्रकृति का मानवीकरण भी संस्कृत रुपकों की अपनी विशेषता रही है। इनमें मानव का प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। कालिदास के ''अभिज्ञान शाकुन्तलम्'' में शकुन्तला की विदाई के समय प्राकृतिक उपादानों की स्थिति का सजीव कारुणिक वर्णन हृदय को सहज भावाभिभूत करने वाला है –

'उद्गलित दर्भकवला मृग्यः, परित्यक्तनर्तना मयूराः
अपसृत पाण्डुपत्र मुन्चन्त्यश्रूणीव लताः'

इसी प्रकार भवभूतिविरचित ''उत्तररामचरित'' नाटक का एक रमणीय वर्णन दृष्टव्य है –

एते रूदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य।
हंसाश्च शोकविधुराः करूणं रुदन्ति।।

इस प्रकार के वर्णन वस्तुतः संस्कृत नाट्य साहित्य में प्रकृति के मानवीकरण के अद्वितीय उदाहरण हैं।

12. संस्कृत नाटकों में भावतत्व की प्रधानता है। भावों का सूक्ष्म अंकन तथा उनमें काव्योचित सौन्दर्य को समाहित करने में ही संस्कृत नाटककार का सर्वाधिक प्रयत्न देखा जाता है। यही कारण है कि संस्कृत नाटकों के अभिनय में उतनी सरलता नहीं दृष्टिगत होती, जितनी पाश्चात्य नाटकों में सहज संभव होती है। संस्कृत का नाटककार कवि हृदय होने के नाते भावों को ही गांभीर्य का जनक समझता है, वह कोरी कलात्मकता को महत्त्व नहीं देता।
13. संस्कृत रुपकों में कथानक भी काव्यशिल्प के अनुरूप चलता है। कथानकीय प्रवाहिकता के आद्यन्त निर्वाह में पाँच अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं एवं संधियों की योजना होती है। अभिनय की स्थिति विशेष के रूप में भारती, सात्वती कैशिकी एवं आरभटी में से कोई एक वृत्ति अपनायी जाती है।
14. प्रभावोत्पादकता संस्कृत नाटकों की प्रमुख विशेषता है। प्रभावोत्पादकता का मूल कारण यह है कि संस्कृत नाटकों में नाटककार भूतकालीन घटना के अभिनय को इस प्रकार प्रस्तुत करता है, मानों वह पाठकों अथवा प्रक्षेकों को उसका प्रत्यक्ष आभास करा रहा हो। इस प्रस्तुति द्वारा पाठकों से घटना के साक्षात् सम्पर्क की अनुभूति ही नाटक को महाकाव्य अथवा उपन्यास की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक बना देती है।
15. संस्कृत नाटकों की रचना के मूल में प्रमुख उद्देष्य दु:खी, थके हुये एवं शोक से त्रस्त लोगों का मनोरंजन करना रहा है जैसा कि नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में भरतमुनि ने लिखा है:-
    दु:खार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
    विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति।।
    विनोदजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति।

संस्कृत नाटक का सौन्दर्यशास्त्र

संस्कृत के महान नाटककार कालिदास ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में अत्यन्त मनोहर नृत्य-अभिनय का उल्लेख किया है। वह चित्र अपने में इतना प्रभावशाली, रमणीय और सरस है कि समूचे प्राचीन साहित्य में अप्रतिम माना जाता है।

'मालविकाग्निमित्र' नाटक में दो नृत्याचार्यों में अपनी कला निपुणता के सम्बन्ध में झगड़ा होता है और यह निश्चित होता है कि दोनों अपनी-अपनी शिष्याओं का नृत्य-अभिनय दिखाएँ और अपक्षपातिनी भगवती कौशिकी निर्णय करेंगी कि दोनों में कौन क्षेष्ठ है? दोनों आचार्य तैयार हुए। मृदंग बज उठा। प्रेक्षागृह में दर्शकगण यथास्थान बैठ गये। भिक्षुणी की अनुमति से रानी की परिचारिका मालविका के शिक्षक आचार्य गणदास यवनिका के अन्तराल से सुसज्जिता शिष्या (मालविका) को रंगभूमि में ले आये। यह पहले ही स्थिर हो गया था कि छलिक नृत्य-जिसमें अभिनेता दूसरे की भूमिका में उतरकर अपने ही मनोभाव व्यक्त करता है-के साथ होने वाले अभिनय को दिखाया जाएगा। मालविका ने गान शुरू किया। मर्म यह था कि दुर्लभ जन के प्रति प्रेमपरवशा प्रेमिका का चित्त एक बार पीड़ा से भर उठता है और फिर आशा से उल्लसित हो उठता है, बहुत दिनों के बाद फिर उसी प्रियतम को देखकर उसी की ओर वह आँखें बिछाये है। भाव मालविका के सीधे हृदय से निकले थे, कण्ठ उसका करूण था। उसके अतुलनीय सौन्दर्य, अभिनयव्यंजित अंग-सौष्ठव, नृत्य की अभिराम भंगिमा और कण्ठ के मधुर संगीत से राजा और प्रेक्षकगण मन्त्र-मुग्ध से हो रहे। अभिनय के बाद ही जब मालविका परदे की ओर जाने लगी, तो विदूषक ने किसी बहाने उसे रोका।

वह ठिठक, कर खड़ी हो गयी, उसका बायाँ हाथ कटिदेश पर विन्यस्त था, उसका कंकण कलाई पर सरक आया था, दाहिना हाथ शिथिल 'यामलता के समान सीधा झूल पड़ा था, झुकी हुई दृष्टि पैरों पर अड़ी हुई थी, जहाँ पैर के अँगूठे फर्श पर बिछे हुए पुष्पों को धीरे-धीरे सरका रहे थे और कमनीय देहलता नृत्यभंगी से ईषदुन्नीत थी। मालविका उसी प्रकार खड़ी हुई थी, जिस सौष्ठव के साथ देहविन्यास करके उसको रंगभूमि में खड़ा होना उचित था। परिव्राजिका कौशिकी ने दाद दी-अभिनय बिल्कुल निर्दोष है। बिना बोले भी अभिनय का भाव स्पष्ट ही प्रकाशित हुआ है, अंगविक्षेप बहुत सुन्दर और चातुरीपूर्ण हुआ है। जिस-जिस रस का अभिनय हुआ है, उस-उस रस में तन्मयता स्पष्ट लक्षित हुई है। भावचेष्टा सजीव होकर स्पष्ट हुई है, मालविका ने बलपूर्वक अन्य विषयों से हमारे चित्त को अभिनय की ओर खींच लिया है। कालिदास ने इस 'लोक में भारतीय संस्कृति, कला, सौन्दर्य और अभिनय का सजीव आदर्श प्रस्तुत कर दिया है। वैसे भी कालिदास रंगमंच को 'चाक्षुष यज्ञ' कहते हैं। उनका यह 'लोक इसका उदाहरण है कि संस्कृत नाटक का सौन्दर्यशास्त्र भारतीय

संस्कृति और परम्पराओं से निकला हुआ है और चिन्तन, आनन्द, सौन्दर्य बोध से जुड़ा है।

परिचय

संस्कृत में हमेशा अच्छे नाट्यप्रयोग पर बल दिया गया है। अच्छे नाट्यप्रयोग में जितना 'क्रीड़ा तत्त्व' जरूरी माना गया, उतना ही उसका परिष्कारकर्ता और शुभ, मांगलिक रूप भी, लेकिन कहीं भी वह लोक से अलग नहीं है, लोक का भावानुकीर्तन है, जीवन के विभिन्न भावों, क्रिया-व्यापारों के साथ नाटक हमें सामरस्य की ओर ले जाता है, इसीलिए हमारा संस्कृत नाटक जीवन के उल्लास का, आनन्द का प्रतीक है, पश्चिम की तरह अनुकरण और ट्रैजेडी का नहीं। संस्कृत नाटक और रंगमंच इसीलिए लोकधर्मी और नाट्यधर्मी दोनों परम्पराओं से विकसित हुआ है। लोक व्यवहार और मानव स्वभाव को ही प्रमाण मानते हुए संस्कृत नाटक परिष्कृत बुद्धि, समृद्ध कल्पना और कलात्मकता का प्रयोग करता है। वह एक निश्चित दर्शन और संस्कृति का परिचायक है। भारतीय नाटक और रंगमंच के देवता नटराज शिव स्वयं सामरस्य और मांगल्य के, कल्याण के प्रतीक हैं।

हमारे यहाँ नाटक और रंगमंच का उदय ही धार्मिक कृत्य, धार्मिक अनुष्ठान के रूप में हुआ था। इसलिए उसका स्वरुप अनुष्ठानपरक है। पूर्वरंग की सारी प्रक्रिया में एक सम्पूर्ण विधान है-प्रत्याहर से से लेकर प्ररोचना आदि तक इन्द्रध्वज आदि सारा विधान धार्मिक और अनुष्ठानपरक है इस अनुष्ठानिक वातावरण की सृष्टि कई नाट्यरूढ़ियों और धार्मिताओं के आधार पर की जाती है। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने इसीलिए कहा है कि यह नाट्य तो 'पंचमवेद' है, जिसमें कहीं धर्म है, कहीं क्रीड़ा, कहीं अर्थ, कहीं शान्ति यह नाट्य-रस, भाव, कर्म तथा क्रियाओं के अभिनय द्वारा लोक में सबको उपदेश देने वाला है। वस्तुतः यह संस्कृत नाटक का सामाजिक पक्ष भी व्यक्त करता है। हमारा मूल स्वर संघर्ष का न होकर, फल का, आनन्द का है। नाटक के कथानक, कथाविधान, कार्याव्यवस्थाएँ आरम्भ और प्रयत्न से शुरू होकर प्राप्त्याशा नियताप्ति से होते हुए फलागम की ओर अग्रसर होती है। इसीलिए संस्कृत नाटक में भाग्य का नहीं कर्म का महत्त्व है और कर्म करने वाला नायक धीरोदात्त नायक है, जिसमें लक्ष्य-प्राप्ति के सभी भारतीय गुण मौजूद हैं। रस आधार है पूरे नाटक और रंगमंच का। 'तेन रस एवं नाट्यम (अभिनव) रसानुभूति ही नाट्य का फलक है इसीलिए

हमारे यहाँ नाना रसों संतचारी भावों, स्थायी भावों की योजना की गयी है और 'रसनिष्पत्ति' एवं साधारणीकरण को महत्त्व दिया गया है। 'असुर पराजय', 'अमृत मंथन' 'त्रिपुरदाह' नाटकों के प्रसंग भी यह दिखाते हैं कि नाटक जीवन से जुड़ा हुआ था। और भरत मुनि के समय में ही नाटक के विविध अवयव निश्चित हो चुके थे- (1) नट, (2) नटी, (3) नृत्य-वाद्य, (4) संगीत (5) संवाद (6) कथावस्तु (7) रंगमंच। 'मालविकाग्निमित्र' में कालिदास ने भी नाट्याचार्य गणदास के मुख से स्पष्ट कहलाया है। नाट्यं भिन्नरूपेर्जनस्य बहुधात्येकं समाराधनम्'। मनुष्यों की रूची भिन्नता के आधार पर ही नाटक-रचना होती है, नाटक को एक ऐसी कला माना गया है, जिसे हर श्रेणी का व्यक्ति भेद-भाव रहित हो कर देख सके। देवदत्त शास्त्री ने कहा भी है कि 'सम्भवत: वर्ग संघर्ष को मिटाने का यह सर्वप्रथम प्रयत्न नाटक के माध्यम से किया गया था।'

संस्कृत नाटक जिस वैविध्य, आनन्द और परिष्कार की ओर ले जाता है, उसमें संगीत की बहुत बड़ी भूमिका है। उत्सवधर्मिता, विभिन्न रागों का ऋतुओं, उत्सवों, समय और भावों से, रसों से सम्बन्ध नाटककार मानकर चलते-हैं ताल, लय, नृत्य, वाद्य-वादन, गीत का शास्त्रीय विधान एक सम्पूर्ण सौन्दर्यशास्त्र रचता है, जो बहुत समृद्ध और गम्भीर, सार्थक, सर्जनात्मक है। 'स्वप्नवासवदत्ता' का उदयन और 'मृच्छकटिकम्' चारूदत्त तो स्वयं संगीतकार हैं। सूत्रधार, नट-नटी आदि द्वारा मंगलाचरण, गायन, नान्दीपाठ एक ऐसी सौन्दर्य-सृष्टि करता है और उससे पूर्व पूर्वरंग विधान रंगशाला में ऐसे वातावरण की रचना करता है, प्रेक्षक की मनोभूमि तैयार करता है कि हम एक भिन्न लोक में ही पहुँच जाते हैं। यह संगीत और विधान प्रेक्षक को आकृष्ट ही नहीं करता, नाटक के विषय से सम्बन्धित वातावरण की ओर भी ले जाता है। तन्मयता, तल्लीनता पूरा मनोविज्ञान ही बदल देती है। 'वेणीसंहार' नाटक में संगीत आरम्भ करने के लिए सूत्रधार की आज्ञा होने पर परिपार्शिवक पूछता है- 'कतमं समयमायित्व गीयताम्' अर्थात किसी ऋतु के आधार पर गाया जाए ? ये सभी प्रयोग ऋतु, समय, संगीत के आन्तरिक सम्बन्ध को भी व्यक्त करते हैं और 'नाट्य प्रयोग' में यह स्वतन्त्रता भी देते हैं कि सूत्रधार आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन भी कर सके। यह भी विशेष बात है कि संस्कृत नाटक में नृत्य और वादन का प्रयोग अधिक है, गीतों का कम। कहीं-कहीं रचनाकार उस काल के प्रचलित महत्त्वपूर्ण संगीत पक्ष का संकेत भी देता है जैसे-'मृच्छकटिकम्' में नायक चारूदत्त के लिए 'गान्धर्व श्रोतुं गतस्य' का प्रयोग शूद्रक ने किया है, जिससे गान्धर्व संगीत के प्रचलन का

आभास होता है। लोकरंजन, काव्यानन्द आत्मानन्द संस्कृत नाटक का अभिन्न अंग रहे हैं।

जाहिर है इस आनन्द तक पहुँचने के लिए प्रेक्षक भी विशिष्ट रूचि-सम्पन्न, संस्कारयुक्त अपेक्षित था। कीथ का तो कहना है कि 'असभ्य, मूर्ख, नास्तिक और निम्नवर्गीय प्रेक्षकशालाओं में प्रवेश नहीं कर सकते थे।' वे दर्शक रस-शास्त्र के नियमों के ज्ञाता, नृत्य और संगीत अभिनय से परिचित होते थे। नाट्यशास्त्र में स्पष्ट कहा है कि प्रेक्षक की सभी इन्द्रिय दुरस्त होने चाहिए, ऊहापोह में उसे पटु होना चाहिए-(आज की भाषा में 'क्रिटिकल आडिएन्स') दोष का जानकर और रागी होना चाहिए। उसे संवेदनशील, सहृदय होना चाहिए। वह सद्गुणशील हो, कला, शिल्प का मर्मज्ञ हो, ताकि नाटक जैसी जटिल, संश्लिष्ट कला का पूर्ण आनन्दानुभव वह कर सके। प्रेक्षक का सीधा प्रत्यक्ष सम्बन्ध अभिनेता से होता है। हमारी भारतीय नाट्यपरम्परा में निर्देशक का नहीं, अभिनेता का महत्त्व है-समस्त अभिव्यक्त का वही आधार है, मुख्य माध्यम है इसीलिए हमारे नाट्यशास्त्र में अभिनेता का, उसके व्यक्तित्व, गुणों, क्रियाओं का इतना विशद और गम्भीर वर्णन है। अभिनेता का शरीर उसकी वाणी, गति, हाव-भाव, क्रिया-व्यापार सब नये अर्थ देते हैं, इसीलिए आंगिक, वाचिक, आहार्य, सात्विक प्रकारों के साथ-साथ आँख, सिर, हाथ, पैर, आदि की इतनी मुद्राएँ बतायी गयी हैं-विभिन्न अंग-उपांग, मुद्राएँ, अंगहार, करण, चारी आदि का विस्तृत निरूपण हुआ है कि उसका वास्तविक प्रशिक्षण सही मानों में अभिनेता को 'रचता' है और बिना बाह्य उपकरणों के सृजन की कल्पनाओं को साकार करता है। अभिनय का वह अद्भुद भण्डार है, जिसका प्रयोग भरतनाट्यम नृत्य में तो हो रहा है, लेकिन रंगमंच में उतना नहीं। अभिनय का पूरा शास्त्र संस्कृत नाटकों का आधार है। वह एक सुव्यवस्थित कार्य-प्रणाली, साधना, आस्था और विशेषज्ञता माँगता है जैसी कि संगीत के घरानों में, शास्त्रीय कला में अपेक्षित होती है।

यद्यपि संस्कृत नाटक राजप्रासादों और मन्दिरों में होते थे, पर उस समय के स्थापत्य सम्बन्धी शास्त्र और नाट्य मण्डपों का भी उल्लेख मिलता है। बड़े-बड़े मन्दिरों में या अन्य स्थानों पर मण्डप खड़े कर दिये जाते थे। नाट्यशास्त्र में शैलगुहाकार का उल्लेख है। भरत ने तीन प्रकार के नाट्य मण्डप बताये हैं-विकृष्ट चतुरस्र, त्रयस्र। इनके भी भेद बताए गये हैं। मंच पर रंगपीठ, रंगशीर्ष, नेपथ्य, मत्तवारिणी, यवनिका तिरस्करणी आदि की व्यवस्था एक पूरी प्रस्तुति परिकल्पना को, सौन्दर्य बोध को व्यंजित करती है। वस्तुतः संस्कृत मंच

अनुमानाश्रित था, सत्याभास विरोधी था। दृश्यविधान हो अथवा कोई दृश्यात्मक कार्य हो, दृश्य हो–उपवन, फूल लताओं, सागर, पानी, आँधी, तूफान आदि के, या रथ के, पक्षी के तो उसकी कल्पना कर ली जाती है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में रथ की तीव्र गति, मृग का दौड़ना, दुष्यन्त का स्वर्गावतरण आदि के दृश्य अभिनेता ही अपनी मुद्राओं और गतियों से अनुमानित कराता है। यही नाट्यधर्मी विधियों का संकेतात्मक विधान है, जो मानवीय है यान्त्रिक और चमत्कारी नहीं है। प्रायः संस्कृत नाटकों में पर्वत, विमान, अन्धकार, सूर्योदय, आखेट आदि के दृश्य चित्रभिनय द्वारा किये जाते हैं। कालिदास, भवभूति शूद्रक के नाटकों में वर्षा, का मेघ–गर्जन, चन्द्रोदय मृग शावक, वानर, ग्रीष्म और शरद ऋतु सिंह सर्प आदि के दृश्यों को अभिनय ही प्रत्यक्ष करता है। आकाशभाषित जनान्तिक, अपवारित नाट्यरूढ़ियाँ भी अभिनय–कौशल का और संस्कृत नाटक रंगमंच को प्रकृति का आभास करती है। संस्कृत रंगमंच मूलतः काव्यात्मक रंगमंच है, इसलिए उसमें भावानुकीर्तन, भावधर्मिता का वैशिष्ट्य है। यह काव्य समग्र रचना से, अभिनय सेय संगीत से, भाषा से सृजित होता है। नाटक प्रेक्षक के भावों को उद्‌बुद्ध करता हुआ उन्हें रसास्वादन कराता है। रस निष्पत्ति सम्बन्धी सारी दृष्टि नाट्य पर ही आधारित है। प्रेक्षक को संस्कृत मंच ने कभी नहीं भुलाया। उसे सन्तुष्ट करना ही नाटकीय सिद्धि मानी गयी। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम, 'मालविकाग्निमित्र' और 'मालतीमाधव' की प्रस्तवाना में स्पष्ट कहा गया है कि उनकी विद्वित् परिषद् के सामने प्रस्तुत किया गया। इससे संस्कृत में नाट्य प्रयोग के महत्त्व और नाट्य प्रयोग और प्रेक्षक के गहन का सम्बन्ध का पता चलता है। हिन्दी में इस प्रकार का कोई निजी सौन्दर्यशास्त्र नहीं बन पाया। एक रचनात्मक प्रयास भारतेन्दु और प्रसाद ने किया था, लेकिन वह उन्हीं तक सीमित रह गया। दोनों नाटककार अपनी लोकधर्मी और नाट्यधर्मी परम्पराओं के आधार पर भारतीय नाटक और पाश्चात्य नाटक के आधार पर ही हिन्दी नाटक और रंगमंच की प्रकृति का, शास्त्र का अन्वेषण कर रहे थे, जो उन्हीं तक सीमित होकर रह गया।

7

अभिज्ञान शाकुन्तलम्

अभिज्ञान शाकुन्तलम् महाकवि कालिदास का विश्वविख्यात नाटक है, जिसका अनुवाद प्रायः सभी विदेशी भाषाओं में हो चुका है। इसमें राजा दुष्यन्त तथा शकुन्तला के प्रणय, विवाह, विरह, प्रत्याख्यान तथा पुनर्मिलन की एक सुन्दर कहानी है। पौराणिक कथा में दुष्यन्त को आकाशवाणी द्वारा बोध होता है, पर इस नाटक में कवि ने मुद्रिका द्वारा इसका बोध कराया है।

इसकी नाटकीयता, इसके सुन्दर कथोपकथन, इसकी काव्य-सौन्दर्य से भरी उपमाएँ और स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुई समयोचित सूक्तियाँ और इन सबसे बढ़कर विविध प्रसंगों की ध्वन्यात्मकता इतनी अद्‌भुत है कि इन दृष्टियों से देखने पर संस्कृत के भी अन्य नाटक अभिज्ञान शाकुन्तल से टक्कर नहीं ले सकते, फिर अन्य भाषाओं का तो कहना ही क्या! तो यहीं सबसे ज्यादा अच्छा है।

मौलिक न होने पर भी मौलिक

(कालिदास) ने अभिज्ञान शाकुन्तल की कथावस्तु मौलिक नहीं चुनी। यह कथा महाभारत के आदिपर्व से ली गई है। यों पद्‌मपुराण में भी शकुन्तला की कथा मिलती है और वह महाभारत की अपेक्षा शकुन्तला की कथा के अधिक निकट है। इस कारण विन्टरनिट्‌ज् की कथा पद्‌मपुराण से ली गई है, परन्तु विद्वानों का कथन है कि पद्‌मपुराण का यह भाग शकुन्तला की रचना के बाद लिखा और बाद में प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। महाभारत की कथा में दुर्वासा के शाप

का उल्लेख नहीं है। महाभारत का दुष्यन्त से यदि ठीक उलटा नहीं, तो भी बहुत अधिक भिन्न है।

महाभारत की शकुन्तला भी कालिदास की भांति सलज्ज नहीं है। वह दुष्यन्त को विश्वामित्र और मेनका के सम्बन्ध के फलस्वरुप हुए अपने जन्म की कथा अपने मुंह से ही सुनाती है। महाभारत में दुष्यन्त शकुन्तला के रूप पर मुग्ध होकर शकुन्तला से गांधर्व विवाह की प्रार्थना करता है, जिस पर शकुन्तला कहती है कि मैं विवाह इस शर्त पर कर सकती हूं कि राजसिंहासन मेरे पुत्र को ही मिले। दुष्यन्त उस समय तो स्वीकार कर लेता है और बाद में अपनी राजधानी में लौटकर जान-बूझकर लज्जावश शकुन्तला को ग्रहण नहीं करता। कालिदास ने इस प्रकार अपरिष्कृत रूप में प्राप्त हुई कथा को अपनी कल्पना से अद्‌भुत रूप में निखार दिया है। दुर्वासा के शाप की कल्पना करके उन्होंने दुष्यन्त के चरित्र को ऊंचा उठाया है। कालिदास की शकुन्तला भी आभिजात्य, सौंदर्य और करुणा की मूर्ति है। इसके अतिरिक्त कालिदास ने सारी कथा का निर्वाह, भावों का चित्रण इत्यादि जिस ढंग से किया है, वह मौलिक और अपूर्व है।

कथा

शकुंतला राजा दुष्यन्त की पत्नी थी, जो भारत के सुप्रसिद्ध राजा भरत की माता और मेनका अप्सरा की कन्या थी। महाभारत में लिखा है कि शंकुतला का जन्म मेनका अप्सरा के गर्भ से हुआ था, जो इसे वन में छोड़कर चली गई थी। वन में शंकुतों (पक्षियों) आदि ने हिंसक पशुओं से इसकी रक्षा की थी, इसी से इसका नाम शकुंतला पड़ा। वन में से इसे कण्व ऋषि उठा लाए थे और अपने आश्रम में रखकर कन्या के समान पालते थे।

एक बार राजा दुष्यन्त अपने साथ कुछ सैनिकों को लेकर शिकार खेलने निकले और घूमते-फिरते कण्व ऋषि के आश्रम में पहुँचे। ऋषि उस समय वहाँ उपस्थित नहीं थेय इससे युवती शकुन्तला ने ही राजा दुष्यंत का आतिथ्य सत्कार किया। उसी अवसर पर दोनों में प्रेम और फिर गंधर्व विवाह हो गया। कुछ दिनों बाद राजा दुष्यंत वहाँ से अपने राज्य को चले गए। कण्व मुनि जब लौटकर आए, तब यह जानकर बहुत प्रसन्न हुए कि शकुंतला का विवाह दुष्यंत से हो गया। शकुंतला उस समय गर्भवती हो चुकी थी। समय पाकर उसके गर्भ से बहुत ही बलवान और तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'भरत' रखा गया। कहते हैं, 'भारत' नाम 'भरत' के नाम पर ही पड़ा।

कुछ दिनों बाद शकुंतला अपने पुत्र को लेकर दुष्यन्त के दरबार में पहुँची, परन्तु शकुन्तला को बीच में दुर्वासा ऋषि का शाप मिल चुका था। राजा ने इसे बिल्कुल नहीं पहचाना और स्पष्ट कह दिया कि न तो मैं तुम्हें जानता हूँ और न तुम्हें अपने यहाँ आश्रय दे सकता हूँ, परंतु इसी अवसर पर एक आकाशवाणी हुई, जिससे राजा को विदित हुआ कि यह मेरी ही पत्नी है और यह पुत्र भी मेरा ही है। उन्हें कण्व मुनि के आश्रम की सब बातें स्मरण हो आईं और उन्होंने शकुंतला को अपनी प्रधान रानी बनाकर अपने यहाँ रख लिया।

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में अनेक मार्मिक प्रसंगों को उल्लेख किया गया है। एक उस समय, जब दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रथम मिलन होता है। दूसरा उस समय, जब कण्व शकुन्तला को अपने आश्रम से पतिगृह के लिए विदा करते हैं। उस समय तो स्वयं ऋषि कहते हैं कि मेरे जैसे–ऋषि को अपनी पालिता कन्या में यह मोह है तो जिनकी औरस पुत्रियां पतिगृह के लिए विदा होती हैं, उस समय उनकी क्या स्थिति होती होगी।

तीसरा प्रसंग है, शकुन्तला का दुष्यन्त की सभा में उपस्थित होना और दुष्यन्त को उसको पहचानने से इनकार करना। चौथा प्रसंग है उस समय का, जब मछुआरे को प्राप्त दुष्यन्त के नाम वाली अंगूठी उसको दिखाई जाती है। और पांचवां प्रसंग मारीचि महर्षि के आश्रम में दुष्यन्त-शकुन्तला के मिलन का।

ध्वन्यात्मक संकेत

शकुन्तला में कालिदास का सबसे बड़ा चमत्कार उसके ध्वन्यात्मक संकेतों में है। इसमें कवि को विलक्षण सफलता यह मिली है कि उसने कहीं भी कोई भी वस्तु निष्प्रयोजन नहीं कही। कोई भी पात्र, कोई भी कथोप-कथन, कोई भी घटना, कोई भी प्राकृतिक दृश्य निष्प्रयोजन नहीं है। सभी घटनाएं यह दृश्य आगे आने वाली घटनाओं का संकेत चमत्कारिक रीति से पहले ही दे देते हैं। नाटक के प्रारम्भ में ही ग्रीष्म-वर्णन करते हुए वन-वायु के पाटल की सुगंधि से मिलकर सुगंधित हो उठने और छाया में लेटते ही नींद आने लगने और दिवस का अन्त रमणीय होने के द्वारा नाटक की कथा-वस्तु की मोटे तौर पर सूचना दे दी गई है, जो क्रमशः पहले शकुन्तला और दुष्यन्त के मिलन, उसके बाद नींद-प्रभाव से शकुन्तला को भूल जाने और नाटक का अन्त सुखद होने की सूचक है। इसी प्रकार नाटक के प्रारम्भिक गीत में भ्रमरों द्वारा शिरीष के फूलों को जरा-जरा-सा चूमने से यह संकेत मिलता है कि दुष्यन्त और शकुन्तला का मिलन अल्पस्थायी

होगा। जब राजा धनुष पर बाण चढ़ाए हरिण के पीछे दौड़े जा रहे हैं, तभी कुछ तपस्वी आकर रोकते हैं। कहते हैं-'महाराज' यह आश्रम का हरिण है, इस पर तीर न चलाना।' यहां हरिण के अतिरिक्त शकुन्तला की ओर भी संकेत है, जो हरिण के समान ही भोली-भाली और असहाय है। 'कहां तो हरिणों का अत्यन्त चंचल जीवन और कहां तुम्हारे वज्र के समान कठोर बाण!' इससे भी शकुन्तला की असहायता और सरलता तथा राजा की निष्ठुरता का मर्मस्पर्शी संकेत किया गया है। जब दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेम कुछ और बढ़ने लगता है, तभी नेपथ्य से पुकार सुनाई पड़ती है कि 'तपस्वियों, आश्रम के प्राणियों की रक्षा के लिए तैयार हो जाओ। शिकारी राजा दुष्यन्त यहां आया हुआ है।' इसमें भी दुष्यन्त के हाथों से शकुन्तला की रक्षा की ओर संकेत किया गया प्रतीत होता है, परन्तु यह संकेत किसी के भी कान में सुनाई नहीं दिया, शकुन्तला को किसी ने नहीं बचाया। इससे स्थिति की करुणाजनकता और भी अधिक बढ़ जाती है।

चौथे अंक के प्रारम्भिक भाग में कण्व के शिष्य ने प्रभात का वर्णन करते हुए सुख और दु:ख के निरन्तर साथ लगे रहने का तथा प्रिय के वियोग में स्त्रियों के असह्य दु:ख का जो उल्लेख किया है, वह दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला का परित्याग किए जाने के लिए पहले से ही पृष्ठभूमि-सी बना देता है। पांचवें अंक में रानी हंसपदिका एक गीत गाती हैं, जिसमें राजा को उनकी मधुर-वृत्ति के लिए उलाहना दिया गया है। दुष्यन्त भी यह स्वीकार करते हैं कि उन्होंने हंसपदिका से एक ही बार प्रेम किया है। इससे कवि यह गम्भीर संकेत देता है कि भले ही शकुन्तला को दुष्यन्त ने दुर्वासा के शाप के कारण भूलकर छोड़ा, परन्तु एक बार प्यार करने के बाद रानियों की उपेक्षा करना उनके लिए कोई नई बात नहीं थी। अन्य रानियां भी उसकी इस मधुकर-वृत्ति का शिकार थीं। हंसपादिका के इस गीत की पृष्ठभूमि में शकुन्तला के परित्याग की घटना और भी क्रूर और कठोर जान पड़ती है। इसी प्रकार के ध्वन्यात्मक संकेतों से कालिदास ने सातवें अंक में दुष्यन्त, शकुन्तला और उसके पुत्र के मिलने के लिए सुखद पृष्ठभूमि तैयार कर दी है। इन्द्र राजा दुष्यन्त को अपूर्व सम्मान प्रदान करते हैं। उसके बाद हेमकूट पर्वत पर प्रजापति के आश्रम में पहुंचते ही राजा को अनुभव होने लगता है कि जैसे-वह अमृत के सरोवर में स्नान कर रहे हों। इस प्रकार के संकेतों के बाद दुष्यन्त और शकुन्तला का मिलन और भी अधिक मनोहर हो उठता है।

काव्य-सौन्दर्य

जर्मन कवि गेटे ने अभिज्ञान शाकुन्तलं के बारे में कहा था-

''यदि तुम युवावस्था के फूल प्रौढ़ावस्था के फल और अन्य ऐसी सामग्रियां एक ही स्थान पर खोजना चाहो, जिनसे आत्मा प्रभावित होता हो, तृप्त होता हो और शान्ति पाता हो, अर्थात् यदि तुम स्वर्ग और मर्त्यलोक को एक ही स्थान पर देखना चाहते हो तो मेरे मुख से सहसा एक ही नाम निकल पड़ता है - शाकुन्तलम्, महान कवि कालिदास की एक अमर रचना!''

इसी प्रकार संस्कृत के विद्वानों में यह 'लोक प्रसिद्ध है-

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।

तत्रपि च चतुर्थोऽकस्तत्र 'लोकचतुष्टयम्

इसका अर्थ है - काव्य के जितने भी प्रकार हैं, उनमें नाटक विशेष सुन्दर होता है। नाटकों में भी काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से अभिज्ञान शाकुन्तलं का नाम सबसे ऊपर है। अभिज्ञान शाकुन्तलं का नाम सबसे ऊपर है। अभिज्ञान शाकुन्तलं में भी उसका चतुर्थ अंक और इस अंक में भी चौथा 'लोक तो बहुत ही रमणीय है।

अभिज्ञान शाकुन्तल में नाटकीयता के साथ-साथ काव्य का अंश भी यथेष्ट मात्र में है। इसमें श्रृंगार मुख्य रस है और उसके संयोग तथा वियोग दोनों ही पक्षों का परिपाक सुन्दर रूप में हुआ है। इसके अतिरिक्त हास्य, वीर तथा करुण रस की भी जहां-तहां अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। स्थान-स्थान पर सुन्दर और मनोहरिणी उतप्रेक्षाएं न केवल पाठक को चमत्कृत कर देती हैं, किन्तु अभीष्ट भाव की तीव्रता को बढ़ाने में ही सहायक होती हैं। सारे नाटक में कालिदास ने अपनी उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का उपयोग कहीं भी केवल अलंकार-प्रदर्शन के लिए नहीं किया। प्रत्येक स्थान पर उनकी उपमा या उत्प्रेक्षा अर्थ की अभिव्यक्ति को रसपूर्ण बनाने में सहायक हुई है।

कालिदास अपनी उपमाओं के लिए संस्कृत-साहित्य में प्रसिद्ध हैं। शाकुन्तल में भी उनकी उपयुक्त उपमा चुनने की शक्ति भली-भांति प्रकट हुई। शकुन्तला के विषय में एक जगह राजा दुष्यन्त कहते हैं कि 'वह ऐसा फूल है, जिसे किसी ने सूंघा नहीं है, ऐसा नवपल्लव है, जिस पर किसी के नखों की खरोंच नहीं लगी, ऐसा रत्न है, जिसमें छेद नहीं किया गया और ऐसा मधु है, जिसका स्वाद किसी ने चखा नहीं है।' इन उपमाओं के द्वारा शकुन्तला के सौंदर्य

की एक अनोखी झलक हमारी आंखों के सामने आ जाती है। इसी प्रकार पांचवें अंक में दुश्यन्त शकुन्तला का परित्याग करते हुए कहते हैं कि 'हे तपस्विनी, क्या तुम वैसे ही अपने कुल को कलंकित करना और मुझे पतित करना चाहती हो, जैसे–तट को तोड़कर बहने वाली नदी तट के वृक्ष को तो गिराती ही है और अपने जल को भी मलिन कर लेती है।' यहां शकुन्तला की चट को तोड़कर बहने वाली नदी से दी गई उपमा राजा के मनोभाव को व्यक्त करने में विशेष रूप से सहायक होती है। इसी प्रकार जब कण्व के शिष्य शकुन्तला को साथ लेकर दुष्यन्त के पास पहुंचते हैं तो दुष्यन्त की दृष्टि उन तपस्वियों के बीच में शकुन्तला के ऊपर जाकर पड़ती है। वहां शकुन्तला के सौंदर्य का विस्तृत पज. वि सवअम पद, वर्णन करके कवि ने उनके मुख से केवल इतना कहलवा दिया है कि 'इन तपस्वियों के बीच में वह घूंघट वाली सुन्दरी कौन है, जो पीले पत्तों के बीच में नई कोंपल के समान दिखाई पड़ रही है।' इस छोटी-सी उपमा ने पीले पत्ते और कोंपल की सदृश्यता के द्वारा शकुन्तला के सौन्दर्य का पूरा ही चित्रंकन कर दिया है। इसी प्रकार सर्वदमन को देखकर दुष्यन्त कहते हैं कि 'यह प्रतापी बालक उस अग्नि के स्फुलिंग की भांति प्रतीत होता है, जो धधकती आग बनने के लिए ईधन की राह देखता है।' इस उपमा से कालिदास ने न केवल बालक की तेजस्विता प्रकट कर दी, बल्कि यह भी स्पष्ट रूप से सूचित कर दिया है कि यह बालक बड़ा होकर महाप्रतापी चक्रवर्ती सम्राट बनेगा। इस प्रकार की मनोहर उपमाओं के अनेक उदाहरण शाकुन्तल में से दिये जा सकते हैं, क्योंकि शाकुन्तलम् में 180 उपमाएं प्रयुक्त हुई हैं और उनमें से सभी एक से एक बढ़कर हैं।

यह ठीक है उपमा के चुनाव में कालिदास को विशेष कुशलता प्राप्त थी और यह भी ठीक है कि उनकी-सी सुन्दर उपमाएँ अन्य कवियों की रचनाओं में दुर्लभ हैं, फिर भी कालिदास की सबसे बड़ी विशेषता उपमा-कौशल नहीं है। उपमा-कौशल तो उनके काव्य-कौशल का एक सामान्य-सा अंग है। अपने मनोभाव को व्यक्त करने अथवा किसी रस का परिपाक करने अथवा किसी भाव की तीव्र अनुभूति को जगाने की कालिदास अनेक विधियां जानते हैं। शब्दों का प्रसंगोचित चयन, अभीष्ट भाव के उपयुक्त छंद का चुनाव और व्यंजना-शक्ति का प्रयोग करके कालिदास ने अपनी शैली को विशेष रूप से रमणीय बना दिया है।

जहां कालिदास शकुन्तला के सौन्दर्य-वर्णन पर उतरे हैं, वहां उन्होंने केवल उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं द्वारा शकुन्तला का रूप चित्रण करके ही सन्तोष नहीं कर लिया है। पहले-पहले तो उन्होंने केवल इतना कहलवाया कि 'यदि तपोवन के निवासियों में इतना रूप है तो समझो कि वन-लताओं ने उद्यान की लताओं को मात कर दिया।' फिर दुष्यन्त के मुख से उन्होंने कहलवाया कि 'इतनी सुन्दर कन्या को आश्रम के नियम-पालन में लगाना ऐसा ही है जैसे–नील कमल की पंखुरी से बबूल का पेड़ काटना।' उसके बाद कालिदास कहते हैं कि 'शकुन्तला का रूप ऐसा मनोहर है कि भले ही उसने मोटा वल्कल वस्त्र पहना हुआ है, फिर उससे भी उसका सौंदर्य कुछ घटा नहीं, बल्कि बढ़ा ही है, क्योंकि सुन्दर व्यक्ति को जो भी कुछ पहना दिया जाए, वही उसका आभूषण हो जाता है।' उसके बाद राजा शकुन्तला की सुकुमार देह की तुलना हरी-भरी फूलों से लदी लता के साथ करते हैं, जिससे उस विलक्षण सौदर्य का स्वरूप पाठक की आंखों के सामने चित्रित-सा हो उठता है। इसके बाद उस सौंदर्य की अनुभूति को चरम सीमा पर पहुंचाने के लिए कालिदास एक भ्रमर को ले आए हैं, जो शकुन्तला के मुख को एक सुन्दर खिला हुआ फूल समझकर उसका रसपान करने के लिए उसके ऊपर मंडराने लगता है। इस प्रकार कालिदास ने शकुन्तला के सौंदर्य को चित्रित करने के लिए अंलकारों का सहारा उतना नहीं लिया, जितना कि व्यंजनाशक्ति काय और यह व्यजना-शक्ति ही काव्य की जान मानी जाती है।

8

मालविकाग्निमित्रम्

मालविकाग्निमित्रम् कालिदास द्वारा रचित संस्कृत नाटक है। यह पाँच अंकों का नाटक है, जिसमे मालवदेश की राजकुमारी मालविका तथा विदिशा के राजा अग्निमित्र का प्रेम और उनके विवाह का वर्णन है। वस्तुतः यह नाटक राजमहलों में चलने वाले प्रणय षड्यन्त्रों का उन्मूलक है तथा इसमें नाट्यक्रिया का समग्र सूत्र विदूषक के हाथों में समर्पित है।

यह शृंगार रस प्रधान नाटक है और कालिदास की प्रथम नाट्य कृति माना जाता है। ऐसा इसलिये माना जाता है, क्योंकि इसमें वह लालित्य, माधुर्य एवं भावगाम्भीर्य दृष्टिगोचर नहीं होता, जो विक्रमोर्वशीय अथवा अभिज्ञान शाकुन्तलम् में है।

कालिदास ने प्रारम्भ में ही सूत्रधार से कहलवाया है –

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः

अर्थात पुरानी होने से ही न तो सभी वस्तुएँ अच्छी होती हैं और न नयी होने से बुरी तथा हेय। विवेकशील व्यक्ति अपनी बुद्धि से परीक्षा करके श्रेष्ठकर वस्तु को अंगीकार कर लेते हैं और मूर्ख लोग दूसरों द्वारा बताने पर ग्राह्य अथवा अग्राह्य का निर्णय करते हैं।

वस्तुतः यह नाटक नाट्य-साहित्य के वैभवशाली अध्याय का प्रथम पृष्ठ है। लगभग 2200 वर्ष पूर्व के युग का चित्रण करते इस नाटक में शुंग वंश के

काल की कला, संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था आदि की उल्लेखनीय झलक मिलती है। इस नाटक में कालिदास द्वारा स्वांग, चतुष्पदी छन्द तथा गायन के साथ अभिनय के भी संकेत किये गए हैं, जो इंगित करते हैं कि उस युग में भी लोकनाट्य के तत्व विद्यमान थे।

कालिदास ने इस नाटक में अत्यन्त मनोहर नृत्य-अभिनय का उल्लेख किया है। वह चित्र अपने में इतना प्रभावशाली, रमणीय और सरस है कि समूचे तत्कालीन साहित्य में अप्रतिम माना जाता है। नाटक में दो नृत्याचार्यों में अपनी कला निपुणता के सम्बन्ध में झगड़ा होता है और यह निर्णय होता है कि दोनों अपनी-अपनी शिष्याओं का नृत्य-अभिनय दिखाएँ। यह भी निर्णय होता है कि पक्षपातरहित निर्णय के लिए जानी जाने वाली विदुषी, भगवती कौशिकी निर्णय करेंगी कि दोनों में कौन श्रेष्ठ है। दोनों आचार्य तैयार होते हैं, मृदंग बज उठता है, प्रेक्षागृह में दर्शकगण यथास्थान बैठ जाते हैं और प्रतियोगिता प्रारम्भ होती है। इस प्रकार के दृश्य का पूर्ववर्ती साहित्य में कहीं उल्लेख नहीं हुआ है, जबकि परवर्ती फिल्मों और धारावाहिकों में इससे प्रेरणा लेकर आज भी यह दृश्य प्रस्तुत किया जाता है।

कथावस्तु

नाटक की कथावस्तु राजकुमारी मालविका और विदिशा नरेश अग्निमित्र के मध्य प्रेम पर केन्द्रित है। विदर्भ राज्य की स्थापना अभी कुछ ही दिनों पूर्व हुई थी। इसी कारण इस नाटक में विदर्भ राज्य को "नवसरोपणशिथिलस्तः" (जो सद्यः स्थापित है) कहा गया है। यज्ञसेन इस समय विदर्भ का राजा है, जो पूर्व मौर्य सम्राट् वृहद्रथ के मन्त्री का सम्बन्धी था। विदर्भराज ने अग्निमित्र की अधीनता को स्वीकार नहीं किया। दूसरी ओर कुमार माधवसेन यद्यपि यज्ञसेन का सम्बन्धी (चचेरा भाई) था, परन्तु अग्निमित्र ने उसे अपनी ओर मिला लिया। जब माधवसेन गुप्त रूप से अग्निमित्र से मिलने जा रहा था, यज्ञसेन के सीमारक्षकों ने उसे बन्दी बना लिया। अग्निमित्र इससे अत्यन्त क्रुद्ध हो गया। उसने यज्ञसेन के पास यह सन्देश भेजा कि वह माधवसेन को मुक्त कर दे, किन्तु यज्ञसेन ने माधवसेन को इस शर्त पर छोड़ने का आश्वासन दिया कि शुंगों के बन्दीगृह के बन्दी पूर्व मौर्य सचिव तथा उनके साले का मुक्त करते है तो ही कुमार माधवसेन को मुक्त किया जाएगा। इससे अग्निमित्र और क्रुद्ध हो गए और उन्होंने अपने सेनापति वीरसेन, जो उनके मित्र भी थे, से आक्रमण करने का आदेश दे दिया।

इस प्रकार, विदर्भ पर शुंगों का आक्रमण हुआ। युद्ध में यज्ञसेन आत्म समर्पण करने के लिए बाध्य हुआ। माधवसेन मुक्त कर दिया गया। विदर्भ राज्य को दोनों चचेरे भाइयों के बीच बाँट दिया गया। वर्धा नदी को उन दोनों राज्यों की सीमा निर्धारित किया गया। वर्धा नदी के एक तरफ माधवसेन और दूसरी तरफ यज्ञसेन को राजा बनाया जाता है। दोनों अग्निमित्र के आधीन शासन करना शुरू करते हैं।

इधर विदर्भ राज्य पर अधिकार हेतु संघर्ष की स्थिति में माधवसेन अपनी बहन मालविका को सुरक्षा हेतु अन्यत्र भेज देते हैं। परिस्थितिवश मालविका भागकर विदिशा आती है, यहां राज्य के महामात्य (मंत्री) से मुलाकात होती है, जो उन्हें वेष बदलकर रहने की अनुमति देता है। अग्निमित्र के राजमहल में ही, अग्निमित्र की पहली पत्नी महारानी धारिणी मालविका को संगीत-नृत्य सिखाने हेतु नाट्यचार्य गणदास को नियुक्त करती हैं।

विदर्भ विजय से अग्निमित्र शुंग की प्रतिष्ठा में अच्छी अभिवृद्धि हुई। एक दिन अग्निमित्र विदर्भ जाते है, वहाँ राजा माधवसेन के महल में किसी चित्रकार द्वारा बनाये राजा माधवसेन की बहन मालविका का चित्र देखते हैं और उससे उन्हें प्रेम हो जाता है।

धारिणी प्रयत्न करती है कि राजा अग्निमित्र मालविका के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध न हो जाएं, फिर भी इसकी जानकारी अग्निमित्र को हो जाती है, वह मालविका की सुन्दरता पर मोहित हो जाते हैं। राजा के मित्र और विदूषक गौतम के प्रयासों से दोनों का मिलन होता है। कुछ समय बाद विदिशा में सांस्कृतिक आयोजन होता है, जिसमें राजा अग्निमित्र मालविका को बिना किसी विचार के विजयी घोषित कर देते हैं। नाटक के अन्त में मालविका की राजसी पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में ज्ञात होने पर धारिणी स्वयं मालविका और अग्निमित्र का विवाह करवा देती है।

संगठन एवं कथा-संयोजन

प्रथम अंक

नाटक के प्रारम्भ में रानी धारिणी मालविका को राजा की दृष्टि से छिपाये रखना चाहती हैं। रानी धारिणी की आज्ञा से मालविका के नृत्य और गायन की शिक्षा की प्रगति के संबंध में नाट्याचार्य गणदास से जानकारी करने के लिए जा

रही वकुलावलिका की भेंट कौमुदिनी से हो जाती है, जो रानी के लिए सांकित अँगूठी लेकर स्वर्णकार के यहाँ से लौट रही थी। उन दोनों की वार्ता से ज्ञात होता है कि मालविका के सौन्दर्य के कारण रानी धारिणी उसे राजा अग्निमित्र की दृष्टि से दूर रखना चाहती है, परन्तु एक दिन चित्रशाला में चित्र देखती हुई महादेवी के निकट उपस्थित होकर राजा मालविका का चित्र देख लेता है और उसके बारे में पूछने पर वसुलक्ष्मी बालभाव से कह देती हैं कि यह मालविका है। मालविका को देखकर राजा उसके सौंदर्य पर मोहित हो गया। कौमुदिनी धारिणी के पास चली जाती है और वकुलावलिका गणदास के पास, गणदास मालविका की निपुणता और गृहणशक्ति की प्रशंसा करता है। इसी को देवी अपने विश्वासपात्र नाट्याचार्य गणदास के पास संगीत नृत्य की शिक्षा के लिए रख छोड़ती है और मालूम होता है कि वह बड़ी कुशलता से नृत्य की प्रायोगिक शिक्षा ग्रहण कर रही है।

इस मिश्रविष्कम्भक के बाद दूसरे दृश्य में राजा अग्निमित्र पत्र लेख लिए हुए मन्त्री के साथ दिखाई पड़ता है। उनके सम्भाषणों से ज्ञात होता है कि पहले राजा ने विदर्भ शासक को पत्र दिया था उसके प्रत्युत्तर में ही यह लेख आया है, अमात्य वाहतक बतलाता है कि वैदर्भ अपना विनाश चाहता है, पत्र से ज्ञात होता है कि अग्निमित्र से माधवसेन की मित्रता है तथा वह प्रतिश्रुत सम्बन्धी है। माधवसेन अपनी कुमारी बहिन को देने का वचन दे चुका है, इसी अपने पितृव्य पुत्र भाई माधवसेन को अग्निमित्र के पास विदिशा जाते हुए रास्ते में ही यज्ञसेन के अंतपाल ने बहिन तथा स्त्री सहित पकड़ लिया, उसी की मुक्ति के लिए अग्निमित्र के विदर्भ शासक को संदेश देने पर वह प्रत्युत्तर में अभिसंधि के रूप में अपने साले मौर्य सचिव को छोड़ने को लिखता है।

मौर्यसचिव विमुंचति यदि पूज्यः संयतं मम 'यालम्।
भोक्तामाधवसेनं ततोऽहमपि बन्धनात्सद्यः

अग्निमित्र कार्य विनिमय की इस अभिसंधि से रूष्ट होकर विदर्भ के समूलोन्मूलन के लिए आज्ञा देता है। अमात्य भी राजा के वक्तव्य का शास्त्र द्वारा समर्थन करता है। फलतः उसने अपने साले धारिणी के भाई को विदर्भ देश पर आक्रमण करके शत्रु को पराजित करने के लिए भेज दिया। दूसरी ओर अमात्य के निष्क्रमण के पश्चात कार्यान्तर (नर्म) सचिव विदूषक, जिसकी प्रतीक्षा राजा बड़ी उत्सुकता से कर रहा है, प्रवेश करता है। इसके बाद राजा विदूषक से मालविका विषयक अपनी काम पीड़ा को कहता है और कोई उपाय ढूंढने का

उपाय करता हैं। उसके द्वारा ज्ञात होता है कि राजा से चित्र में देखी मालविका के प्रत्यक्ष दर्शन के उपाय को भेजा है और अब उसका उपाय भी कर दिया गया है। तभी गणदास तथा हरिदत्त दोनो तू-तू मैं-मैं करते हुए प्रवेश करते हैं। यही विदूषक की कूटनीति प्रयोग विस्तार पाता है। दोनों नाट्याचार्य एक दूसरे को विद्या आदि में हेय समझते हैं, परस्पर निन्दा करते हैं और राजा से ही प्राश्चिक के रूप में इसका निर्णय चाहते हैं कि दोनो में शास्त्र तथा प्रयोग ज्ञान में श्रेष्ठ कौन है।

लब्धास्पदोऽस्माति विवादभीरोस्तिति क्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिज वदन्ति।।

पर इस विवाद के विषय में रानी के सम्भावित पक्षपात के सन्देह से आशंकित होकर राजा भगवती कौशिकी तथा रानी के समक्ष ही विवाद के निर्णय को न्याय समक्ष दोनों को बुला भेजते हैं। यही ज्ञात होता है कि महाराज का पक्षपात हरदत्त की ओर है और महारानी का गणदास की ओर। अतः तटस्थ कोशिकी को ही सर्वसम्मत रूप से मध्यस्थ बनाया जाता है, क्योंकि नाट्य निर्णय प्रयोग द्वारा ही सम्भव है। अतः महारानी की अनिच्छा होने पर भी आचार्यों के शिष्यों को नाट्य प्रदर्शन की आज्ञा दे दी जाती है और दोनों नाट्याचार्यों की शिष्याओं को नृत्य कला प्रदर्शन के आधार पर ही उनकी वरिष्ठता निर्धारित करने का निश्चय किया गया।

द्वितीय अंक

रंगशाला में वयोवृद्ध होने के कारण गणदास को सर्वप्रथम अपनी शिष्या मालविका के नृत्य प्रदर्शन का अवसर प्रदान किया गया मालविका के दर्शन के लिए राजा पूर्व से ही अधीर थे और जब साक्षात राजा ने मालिविका को देखा तो मन्त्रमुग्ध हो, उसके सौन्दर्य को देखता ही रहा। राजा महारानी परिव्राजिका एवं विदूषक रंगशाला में मालविका का नृत्य देखते हैं। पारिवाजिका के आदेशानुसार मालविका चलित नृत्य प्रस्तुत करती है, उसका नृत्य और गीत राजा को और व्यथित कर देता है। मालविका के उत्कृष्ट नृत्य के कारण प्राश्निक परिव्रजिका गणदास के पक्ष में निर्णय देती है, हरदत्त की शिष्या का नृत्य प्रदर्शन उस समय नहीं कराया जा सका, क्योंकि दोपहर के भोजन का समय हो गया था। प्रदर्शन के बाद धारिणी मालविका को राजा के सामने से

शीघ्र दूर करने को आतुर दीख पड़ती थी। यही मालविका के प्रति राजा का पूर्वानुराग अभिव्यक्त होता है।

सर्वान्तः पुरवनिताव्यापार प्रतिनिवृत्त हृदयस्य।
सा वामलोचना में स्नेहस्यैकामनीभूता।।

राजा का मन बहुत अशान्त था, उसने विदूषक से बहुत शीघ्र ऐसा कोई उपाय ढूंढने के लिए कहा, जिससे उसका मालविका से मिलन हो सके। विदूषक ने बड़ी निपुणता के साथ बकुलावलिका को विश्वास में लेकर उससे मालविका के हृदय में राजा के प्रति प्रेम बीज बोने के लिए कहा।

तृतीय अंक

तृतीय अंक के आरम्भ में प्रवेशक में मधुकरिका और समाहितिका यह संकेत देती है कि यद्यपि मालविका बहुत प्रशंसित हो चुकी है, तब भी आजकल परिम्लान सी दीख पड़ती है तथा स्वामी भी उसके प्रति साभिलाष है, केवल धारिणी ही उसकी रक्षा कर रही है। अन्तःपुर के प्रमदवन में स्थित तपनीय अशोक के दोहद के लिए किसी तरूणी को पाद प्रहार करना था और यह कार्य महारानी धारिणी द्वारा ही सम्पन्न किया जाना था, किन्तु आकस्मिक पैर की चोट के कारण धारिणी ने इस कार्य के लिए मालविका को नियुक्त कर दिया और उसे ही प्रमदवन में जाने की अनुमति प्रदान की और यह वचन भी दिया कि यदि पाँच दिन में अशोक के पुष्प पुष्पित हो जायेंगे तो मालविका का मनोरथ पूर्ण कर देगी।

उधर राजा को दूसरी रानी इरावती के साथ झूला झूलने के लिए प्रमदवन में जाना था। अन्यमनस्क राजा विदूषक के आग्रह पर प्रमदवन आ जाता है और मालविका में मन रमा होने पर भी छोटी रानी इरावती के संदेशानुसार प्रमदवन में उपस्थित होता है, वहां राजा इरावती की प्रतीक्षा कर ही रहा था कि वहां उसे वकुलावलिका और मा लविका, जो अशोक के दोहद के लिए आयी थी, दिखाई पड़ जाती है। यहीं विदूषक द्वारा राजा को ज्ञात होता है कि यद्यपि सम्पत्ति पर साँप के समान ही रानी मालविका पर निगाह रखती है, तब भी वकुलावलिका आदि उसे राजा से मिलाने को प्रयत्नशील है और आज मालविका को राजा से मिलने का अवसर मिलता है। वहां उसे वकुलावलिका और मालविका, जो अशोक के दोहद के लिए आयी दिखाई पड़ जाती है, पर तभी इरावती की चेटी

निपुणिका के साथ प्रवेश कर दोनों मिल ही पाते हैं कि दूसरी ओर मदमस्त इरावती भी अपनी सेविका निपुणिका के साथ प्रमदवन में आ जाती है। राजा और इरावती दोनो ही अलग-अलग मालविका और वकुलावलिका की राजा के प्रति प्रेम की गुप्त बातें सुनते हैं। मालविका और वकुलावलिका की वार्ता से राजा विषयक प्रेम मालविका प्रकट करती है अपने पर प्रेम की वार्ता को सुन राजा अत्यन्त ही प्रसन्न हो जाता है कि जितना वे मालविका के लिए अधीर है, उतना ही मालविका भी उसके प्रेम में आतुर है। ऐसा सुनकर राजा तो प्रेम मे प्रफुल्लित होता है, किन्तु उधर रानी इरावती अत्यन्त ही रूष्ट हो जाती है और कटु शब्द सुनाती है। रक्तरंजित पैर से मालविका द्वारा अशोक पर पाद प्रहार करते देख कर विदूषक कहता है कि क्या महाराज के मित्र स्वरूप अशोक वृक्ष पर आपके द्वारा पैर से प्रहार करना ठीक रहेगा? तब वकुलावलिका बताती है कि महारानी की आज्ञा से ही यह कार्य सम्पन्न करने यहाँ आई है। राजा आज्ञा दे देते हैं और कहते है कि अपने बायें पैर में पाद प्रहार में कोई कष्ट न हो, तब मालविका राजा के पैर को छूकर क्षमा माँगती हैं दोनों का स्पर्श होता है। राजा के द्वारा मालविका से अपना प्रेम प्रकट करने के समय ही वहां इरावती पहुंच जाती है। सम्भ्रमपूर्वक राजा इरावती से कहता है कि मैं तुम्हें ढूंढता रहा, किन्तु तुम्हारे न आने पर ही मन बहलाने के लिए इधर चला आया। यहाँ पर इरावती की सपत्नीजन्य ईर्ष्या भड़क उठी। वह राजा को व्यंग्य वाणों से भेदन करती है और वकुलावलिका को फटकारते हुए वहां से जाने लगती है। राजा अग्निमित्र इरावती के चरणों में अपनी पगड़ी रख भी क्षमा प्रार्थना करते हैं व उसके पाँव पकड़ लेते हैं, किन्तु वह नहीं मानती है और क्रोध के वशीभूत होकर वहाँ से चली जाती है। विदूषक राजा से कहता है कि इरावती यहाँ से मंगल ग्रह के समान वापस चली गयी हैं अतैव अब आप भी चलिए। राजा भी विचार करता है कि जब रानी उसका अनादर कर सकती है तो मैं भी उसकी उपेक्षा कर सकता हूँ।

मन्ये प्रियाहृतमनास्तस्याः प्रणिपातलङ्घनं सेवाम्।
एवं प्रणयवती सा मयि शक्यमुपेक्षितुं कुपिता।।

और ऐसा विचार कर वह अपना ध्यान मालविका पर आसक्त करता है। उसके पश्चात सभी वहां से चले जाते हैं। उधर इरावती ईर्ष्या से जली हुई सीधे जाकर रानी धारिणी को मालविका और वकुलावलिका के विरूद्ध भड़का देती है। धारिणी ने दोनों को कारागृह में डाल दिया और विश्वस्त परिचारिका को कार्य

पर लगा दी कि उसकी सर्प चिह्न वाली अंगूठी देखे बिना उन दोनों को मुक्त न किया जाये।

चतुर्थ अंक

मालविका के प्रेम में आसक्त और उसी के विषय में चिंतातुर राजा अन्ततः अपने हृदय की मनोव्यथा विदुषक से कहते हैं और मालविका विषयक कारावास का समाचार सुनकर अत्यन्त दुःखी हो उठते हैं और मालविका को किसी भी प्रकार से मुक्त कराने के लिए विदूषक से प्रार्थना करते हैं। विदूषक ने एक उपाय सोचकर राजा के कान में बता दिया और कहा कि आज रानी धारिणी का समाचार जानने के लिए वहां जाइये, क्योंकि उनके पैर में चोट आ गयी थी। राजा रानी धारिणी की चोट देखने के लिए उनके कमरे में जाते हैं और विदूषक स्वयं केतकी के काटे से सर्पदंश का चिन्ह बना कर वहां पहुँच गया, जहाँ पर राजा और रानी धारिणी बैठे थे और वहां बताया कि वो महारानी के लिए पुष्प तोड़ने गया था कि तभी सर्प ने काट लिया। ऐसा सुन रानी ब्रह्महत्या के भय से अत्यन्त चिंतित हुई। राजा ने चिकित्सा के लिए उसे राजवैद्य ध्रुवसिद्धि के पास भेज दिया। ध्रुवसिद्धि के नाम पर विदूषक के उपचार के बहाने रानी की सर्पमुद्रा को मंगवा लिया और उस सर्पमुद्रा को माधविका को दिखा कर मालविका और वकुलावलिका को मुक्त करा लिया। उधर राजा भी मन्त्री से वाहतक से राजकार्य सम्बन्धी परामर्श करने के बहाने से रानी के पास से उठ बाहर चले आते हैं। पूर्व संकेतानुसार राजा, विदूषक मालविका और वकुलावलिका सभी समुद्रगृह में एकत्र होते हैं। राजा और मालविका को एकांत में वार्तालाप के लिए छोड़ कर वकुलावलिका वहीं छिप जाती है और विदूषक बाहर दरवाजे पर पहरा देने लगता है, पहरा देते देते वहीं निद्रालु हो जाता है और स्वप्न में मालविका को राजा के सानिध्य में पाता है। राजा मालविका को बिल्कुल अपने सानिध्य में लिए हुए है।

विसृज सुन्दरि संङगमसाध्वसं, तव चिरात् प्रभृति प्रणयोन्मुखे।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्त लताचरितं मयि।।

और विदूषक सपने में बड़बड़ाता है–मालविका राजप्रिया बनो इरावती को राजप्रणय में जीत लो। इतने में वहां इरावती और निपुणिका आ जाती हैं, स्वप्न में मालविका को इरावती से बढ़ने वाली बात को सुनकर कुपित होती है और विदूषक के उपर टेड़े-मेड़े लकड़ी के डंडे से खम्भे के द्वारा उसको डराती है,

जिससे कि सांप-सांप चिल्लाने लगता है। विदूषक का शोर सुनकर राजा उसकी सहायता के लिए बाहर आता है। मालविका रोकती है कि अचानक बाहर मत निकलिए वहां सांप है। इरावती एकाएक राजा के पास जाकर कहती है कि आज दोनों का दिवाभसार हो गया क्या? सभी इरावती को वहाँ देखकर घबरा जाते हैं। इस प्रकार सब कुछ देखकर इरावती अत्यन्त क्रुद्ध हो जाती है। राजा इरावती को बहुत समझाता है कि–

नार्हति कृतापराधोऽप्युत्सवदिवसेषु परिजनो बन्धुम्।
इति मोचिते मयैते प्रणिपतितुं मामुपगते च।।

किन्तु इरावती न मानी और अपनी परिचारिका से रानी धारिणी के पास संदेश भेज दिया कि आपका पक्षपात देखकर मुझे विश्वास हो गया कि आपकी सहायता से ही इन दोनों का मिलाप हुआ है। उसी प्रकार एक दासी ने आकर समाचार दिया कि कुमारी वसुलक्ष्मी को बन्दर ने डरा दिया है, जिससे वह रोना बन्द ही नहीं कर रही है। मालविका और वकुलावलिका को छोड़कर सभी चले जाते है। तभी मधुरिका (मालिनी) आकर बताती हैं कि अशोक पाँच रातों के भीतर ही पुष्पित हो उठा है, प्रसन्न मालविका वकुलावलिका के साथ रानी धारिणी को यह समाचार देने तथा अपना पारितोषिक प्राप्त करने चली जाती है।

पंचम अंक

राजा को धारिणी का यह संदेश मिलता है कि अशोक वृक्ष से पुष्प पुष्पित हो चुके है। अतः वे रक्त शोक के पास पहुंचे, वहां उनकी प्रतीक्षा कर रही है। उधर राजा के पास यह भी समाचार आता है कि उनकी सेना ने विदर्भ नरेश यज्ञसेन को परास्त कर माधवसेन को मुक्त करा लिया है।

परभृत कलव्याहारेषु त्वमात्तरतिर्मधु, नयसि, विदिशातीराद्यानेष्वङग इवाङग।

विजयकारिणामालानत्वं गतः प्रबलस्य ते, वरद!वरदारोधोवृक्षैः सहावनतो रिपुः

राजा और विदूषका रक्ताशोक देखने प्रमदवन जाते हैं। मालविका वहां वैवाहिक वेष में सजी हुई है व रानी के बिल्कुल समीप खड़ी है। साथ ही में परिव्राजिका कौशिकी तथा परिजनों से युक्त धारिणी राजा के दर्शन के लिए आतुर है। उसी समय राजा अग्निमित्र के पिता पुष्यमित्र का भेजा हुआ दूत वहां आया, जिसने बताया कि राजकुमार वसुमित्र (अग्निमित्र का पुत्र) ने यज्ञाश्व की बड़ी बहादुरी से रक्षा कर ली है। राजा ने धारिणी की प्रशंसा में कहा कि आपके पुत्र

विजयी होकर वापस लौटे हैं अतैव आप वीरमाता के नाम से जानी जाओगी। यह समाचार सुनकर सभी बहुत प्रसन्न हुए। धारिणी ये समाचार इरावती को भी बताने को कहती है तदन्तर वो राजा से कहती है कि आपने मुझे प्रिय समाचार सुनाया है। अतः आप तदनुरूप पारितोषिक स्वीकार करें। उसके पश्चात उसी समय उपहार में भेजी गई दो शिल्प कन्याएं वहाँ उपस्थित की गयी, जिनमें से एक ने मालविका को पहचान लिया और कहा कि यह तो राजकुमारी है, उन कन्याओं ने परिव्राजिका को भी पहचान लिया। यह सब देखकर राजा आश्चर्य चकित हुए और सविस्तार जानने की इच्छा प्रकट की। उनक न्याओं ने तथा परिव्राजिका ने पूरी घटना को विस्तार से राजा को बताया।

अप्याकरसमुत्पन्ना मणिजातिरसंस्कृता।
जातपेरूण कल्याणि! न हि संयोगमर्हति।।

मालविका और अपने अज्ञातवास के औचित्य को सिद्ध करती हुई परिव्राजिका ने बताया कि जिस समय मालविका के पिता जीवित थे, उसी समय एक सिद्ध पुरूष ने बताया था कि मालविका एक वर्ष तक दासी का काम करने के बाद योग्य पति प्राप्त कर सकेगी। इसलिए मालविका को दासी के रूप में रहते देखकर वह चुप थी। वास्तविकता की जानकारी हो जाने पर उसे दासी कर्म कही और करना पड़ता, जो उचित नहीं था। इसके पश्चात रानी धारिणी, इरावती की तथा परिव्राजिका, कौशिकी की अनुमति लेकर मालविका का विवाह राजा से करा देती हैं।

9

विक्रमोर्वशीयम्

विक्रमोर्वशीयम् कालिदास का विख्यात नाटक। यह पांच अंकों का नाटक है। इसमें राजा पुरुरवा तथा उर्वशी का प्रेम और उनके विवाह की कथा है।

एक बार देवलोक की परम सुंदरी अप्सरा उर्वशी अपनी सखियों के साथ कुबेर के भवन से लौट रही थी। मार्ग में केशी दैत्य ने उन्हें देख लिया और तब उसे उसकी सखी चित्रलेखा सहित वह बीच रास्ते से ही पकड़ कर ले गया।

यह देखकर दूसरी अप्सराएँ सहायता के लिए पुकारने लगीं, "आर्यो! जो कोई भी देवताओं का मित्र हो और आकाश में आ-जा सके, वह आकर हमारी रक्षा करें।" उसी समय प्रतिष्ठान देश के राजा पुरुरवा भगवान सूर्य की उपासना करके उधर से लौट रहे थे। उन्होंने यह करूण पुकार सुनी तो तुरंत अप्सराओं के पास जा पहुँचे। उन्हें ढाढ़स बँधाया और जिस ओर वह दुष्ट दैत्य उर्वशी को ले गया था, उसी ओर अपना रथ हाँकने की आज्ञा दी।

अप्सराएँ जानती थीं कि पुरुरवा चंद्रवंश के प्रतापी राजा है और जब-जब देवताओं की विजय के लिए युद्ध करना होता है तब-तब इंद्र इन्हीं को, बड़े आदर के साथ बुलाकर अपना सेनापति बनाते हैं।

इस बात से उन्हें बड़ा संतोष हुआ और वे उत्सुकता से उनके लौटने की राह देखने लगी। उधर राजा पुरुरवा ने बहुत शीघ्र ही राक्षसों को मार भगाया और उर्वशी को लेकर वह अप्सराओं की ओर लौट चले।

रास्ते में जब उर्वशी को होश आया और उसे पता लगा कि वह राक्षसों की कैद से छूट गई है तो वह समझी कि यह काम इंद्र का है, परंतु चित्रलेखा ने उसे बताया कि वह राजा पुरुरवा की कृपा से मुक्त हुई है। यह सुनकर उर्वशी ने सहसा राजा की ओर देखा, उसका मन पुलक उठा। राजा भी इस अनोखे रूप को देखकर मन-ही-मन उसे सराहने लगे।

अप्सराएँ उर्वशी को फिर से अपने बीच में पाकर बड़ी प्रसन्न हुई और गदगद होकर राजा के लिए मंगल कामना करने लगीं, "महाराज सैंकड़ों कल्पों तक पृथ्वी का पालन करते रहें।" इसी समय गंधर्वराज चित्ररथ वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने बताया कि जब इंद्र को नारद से इस दुर्घटना का पता लगा तो उन्होंने गंधर्वों की सेना को आज्ञा दी, "तुरंत जाकर उर्वशी को छुड़ा लाओ।" वे चले लेकिन मार्ग में ही चारण मिल गए, जो राजा पुरुरवा की विजय के गीत गा रहे थे। इसलिए वह भी उधर चले आए। पुरुरवा और चित्ररथ पुराने मित्र थे। बड़े प्रेम से मिले। चित्ररथ ने उनसे कहा, "अब आप उर्वशी को लेकर हमारे साथ देवराज इंद्र के पास चलिए। सचमुच आपने उनका बड़ा भरी उपकार किया है।" लेकिन विजयी राजा ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने इसे इंद्र की कृपा ही माना। बोले, "मित्र! इस समय तो मैं देवराज इंद्र के दर्शन नहीं कर सकूँगा। इसलिए आप ही इन्हें स्वामी के पास पहुँचा आइए।"

चलते समय लाज के कारण उर्वशी राजा से विदा नहीं माँग सकी। उसकी आज्ञा से चित्रलेखा को ही यह काम करना पड़ा, "महाराज! उर्वशी कहती है कि महाराज की आज्ञा से मैं उनकी कीर्ति को अपनी सखी बनाकर इंद्रलोक ले जाना चाहती हूँ।" राजा ने उत्तर दिया, "जाइए, परंतु फिर दर्शन अवश्य दीजिए।"

उर्वशी जा रही थी, पर उसका मन उसे पीछे खींच रहा था। मानो उसकी सहायता करने के लिए ही उसकी वैजयंती की माला लता में उलझ गई। उसने चित्रलेखा से सहायता की प्रार्थना की और अपने आप पीछे मुड़कर राजा की ओर देखने लगी।

चित्रलेखा सब कुछ समझती थी। बोली, "यह तो छूटती नहीं दिखाई देती, फिर भी कोशिश कर देखती हूँ।" उर्वशी ने हँसते हुए कहा, "प्यारी सखी। अपने ये शब्द याद रखना। भूलना मत।"

राजा का मन भी उधर ही लगा हुआ था। जब-तक वे सब उड़ न गईय तब तक वह उधर ही देखते रहे। उसके बाद बरबस रथ पर चढ़कर वह भी अपनी राजधानी की ओर लौट गए।

महाराज राजधानी लौट तो आयेय पर मन उसका किसी काम में नहीं लगता था। वह अनमने-से रहते थे। उनकी रानी ने भी, जो काशीनरेश की कन्या थी, इस उदासी को देखा और अपनी दासी को आज्ञा दी कि वह राजा के मित्र विदूषक माणवक से इस उदासी का कारण पूछकर आए। दासी का नाम निपुणिका था। वह अपने काम में भी निपुण थी। उसने बहुत शीघ्र इस बात का पता लगा लिया कि महाराज की इस उदासी का कारण उर्वशी है। विदूषक के पेट में राजा के गुप्त प्रेम की बातें भला कैसे पच सकती थीं। यहीं नहीं, रानी का भला बनने के लिए उसने यह भी कहा कि वह राजा को इस मृगतृष्णा से बचाने के लिए कोशिश करते-करते थक गया है। यह समाचार देने के लिए निपुणिका तुरंत महारानी के पास चली गई और विदूषक डरता-डरता महाराज के पास पहुँचा।

तीसरे प्रहर का समय था। राजकाज से छुट्टी पाकर महाराज विश्राम के लिए जा रहे थे। मन उनका उदास था ही। विदूषक परिहासादि से अनेक प्रकार उनका मन बहलाने की कोशिश करने लगा, पर सब व्यर्थ हुआ। प्रमद वन में भी उनका मन नहीं लगा। जी उलटा भारी हो आया। उस समय वसंत ऋतु थी। आम के पेड़ों में कोंपलें फूट आई थीं। कुरबक और अशोक के फूल खिल रहे थे। भौंरों के उड़ने से जगह-जगह फूल बिखरे पड़े थे, लेकिन उर्वशी की सुंदरता ने उन पर कुछ ऐसा जादू कर दिया था कि उनकी आँखों को फूलों के भार से झुकी हुई लताएँ और कोमल पौधे भी अच्छे नहीं लगते थे। इसलिए उन्होंने विदूषक से कहा, "कोई ऐसा उपाय सोचो कि मेरे मन की साध पूरी हो सके।"

विदूषक ऐसा उपाय सोचने का नाटक कर ही रहा था कि अच्छे शकुन होने लगे और चित्रलेखा के साथ उर्वशी ने वहाँ प्रवेश किया।

उन्होंने माया के वस्त्र ओढ़ रखे थे, इसलिए उन्हें कोई देख नहीं सकता था, वे सबको देख सकती थीं। जब प्रमद न में उतर कर उन्होंने राजा को बैठे देखा तो चित्रलेखा बोली, "सखी! जैसे—नया चाँद चाँदनी की राह देखता है वैसे ही ये भी तेरे आने की बाट जोह रहे हैं।" उर्वशी को उस दिन राजा पहले से भी सुंदर लगे।

लेकिन उन्होंने अपने-आपको प्रगट नहीं किया। महाराज के पास खड़े होकर उनकी बातें सुनने लगीं। विदूषक तब उन्हें अपने सोचे हुए उपाय के बारे में बता रहा था। बोला, "या तो आप सो जाइए, जिससे सपने में उर्वशी से भेंट हो सके। या फिर चित्र-फलक पर उसका चित्र बनाइए और उसे एकटक देखते

रहिए।" राजा ने उत्तर दिया कि ये दोनों ही बातें नहीं हो सकती। मन इतना दु:खी है कि नींद आ ही नहीं सकती। आँखों में बार-बार आँसू आ जाने के कारण चित्र का पूरा होना भी संभव नहीं है।

इसी तरह की बातें सुनकर उर्वशी को विश्वास हो गया कि महाराज उसी के प्रेम के कारण इतने दु:खी हैं, पर वह अभी प्रगट नहीं होना चाहती थी। इसलिए उसने भोजपत्र पर महाराज की शंकाओं के उत्तर में एक प्रेमपत्र लिखा और उनके सामने फेंक दिया। महाराज ने उस पत्र को पढ़ा तो पुलक उठे। उन्हें लगा जैसे–वे दोनों आमने-सामने खड़े होकर बातें कर रहे हैं। कहीं वह पत्र उनकी उंगलियों के पसीने से पुछ न जाए, इस डर से उसे उन्होंने विदूषक को सौंप दिया। उर्वशी को यह सब देख-सुनकर बड़ा संतोष हुआय पर वह अब भी सामने आने में झिझक रही थी। इसलिए पहले उसने चित्रलेखा को भेजा, पर जब महाराज के मुँह से उसने सुना कि दोनों ओर प्रेम एक जैसा ही बढ़ा हुआ है तो वह भी प्रगट हो गई। आगे बढ़ कर उसने महाराज का जय-जयकार किया। महाराज उर्वशी को देखकर बड़े प्रसन्न हुए, लेकिन अभी वे दो बातें भी नहीं कर पाए थे कि उन्होंने एक देवदूत का स्वर सुना। वह कह रहा था, "चित्रलेखा! उर्वशी को शीघ्र ले आओ। भरत मुनि ने तुम लोगों को आठों रसों से पूर्ण जिस नाटक की शिक्षा दे रखी है, उसी का सुंदर अभिनय देवराज इंद्र और लोक-पाल देखना चाहते हैं।"

यह सुनकर चित्रलेखा ने उर्वशी से कहा, "तुमने देवदूत के वचन सुने। अब महाराज से विदा लो।"

लेकिन उर्वशी इतनी दु:खी हो रही थी कि बोल न सकी। चित्रलेखा ने उसकी ओर से निवेदन किया, "महाराज, उर्वशी प्रार्थना करती है कि मैं पराधीन हूँ। जाने के लिए महाराज की आज्ञा चाहती हूँ, जिससे देवताओं का अपराध करने से बच सकूँ।"

महाराज भी दु:खी हो रहे थे। बड़ी कठिनता से बोल सके, "भला मैं आपके स्वामी की आज्ञा का कैसे विरोध कर सकता हूँ, लेकिन मुझे भूलिएगा नहीं।"

महाराज की ओर बार-बार देखती हुई उर्वशी अपनी सखी के साथ वहाँ से चली गई। उसके जाने के बाद विदूषक को पता लगा कि महाराज ने उसे उर्वशी का जो पत्र रखने को दिया था, वह कहीं उड़ गया है। वह डरने लगा कि कहीं महाराज उसे माँग न बैठें। यही हुआ भी। पत्र न पाकर महाराज बड़े

क्रुद्ध हुए और तुरंत उसे ढूँढ़ने की आज्ञा दी। यही नहीं वह स्वयं भी उसे ढूँढ़ने लगे।

इसी समय महारानी अपनी दासियों के साथ उधर ही आ रही थी। उन्हें उर्वशी के प्रेम का पता लग गया था। वह अपने कानों से महाराज की बातें सुनकर इस बात की सच्चाई को परखना चाहती थीं। मार्ग में आते समय उन्हें उर्वशी का वही पत्र उड़ता हुआ मिल गया। उसे पढ़ने पर सब बातें उनकी समझ में आ गई। उस पत्र को लेकर जब वह महाराज के पास पहुँची तो वे दोनों बड़ी व्यग्रता से उसे खोज रहे थे। महाराज कह रहे थे कि मैं तो सब प्रकार से लुट गया। यह सुनकर महारानी एकाएक आगे बढ़ीं और बोलीं, "आर्यपुत्र! घबराइए नहीं। वह भोजपत्र यह रहा।"

महारानी को और उन्हीं के हाथ में उस पत्र को देखकर महाराज और भी घबरा उठे, लेकिन किसी तरह अपने को सँभालकर उन्होंने महारानी का स्वागत किया और कहा, "मैं इसे नहीं खोज रहा था, देवी। मुझे तो किसी और ही वस्तु की तलाश थी।" विदूषक ने भी अपने विनोद से उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न किया, लेकिन वह क्यों माननेवाली थीं। बोली, "मैं ऐसे समय में आपके काम में बाधा डालने आ गई। मैंने अपराध किया। लीजिए मैं चली जाती हूँ।" और वह गुस्से में भरकर लौट चलीं। महाराज पीछे-पीछे मनाने के लिए दौड़े। पैर तक पकड़े, पर महारानी इतनी भोली नहीं थीं कि महाराज की इन चिकनी- चुपड़ी बातों में आ जाती।

लेकिन पतिव्रता होने के कारण उन्होंने कोई कड़ा बर्ताव भी नहीं किया। ऐसा करती तो पछताना पड़ता। बस वह चली गई। महाराज भी अधीर होकर स्नान-भोजन के लिए चले गए। वह महारानी को अब भी पहले के समान ही प्यार करते, लेकिन जब वह हाथ-पैर जोड़ने पर भी नहीं मानीं तो वह भी क्रुद्ध हो उठे।

देवसभा में भरत मुनि ने लक्ष्मी-स्वयंवर नाम का जो नाटक खेला था, उसके गीत स्वयं सरस्वती देवी ने बनाये थे। उसमें रसों का परिपाक इतना सुंदर हुआ था कि देखते समय पूरी-की-पूरी सभा मगन हो उठती थी, लेकिन उस नाटक में उर्वशी ने बोलने में एक बड़ी भूल कर दी। जिस समय वारुणी बनी हुई मेनका ने, लक्ष्मी बनी हुई उर्वशी से पूछा, "सखी! यहाँ पर तीनों लोक के एक से एक सुन्दर पुरुष, लोकपाल और स्वयं विष्णु भगवान आए हुए हैं, इनमें तुम्हें कौन सबसे अधिक अच्छा लगता है?" उस समय उसे कहना चाहिए था

'पुरुषोत्तम', पर उसके मुँह से निकल गया 'पुरुख'। इस पर भरत मुनि ने उसे शाप दिया, "तूने मेरे सिखाए पाठ के अनुसार काम नहीं किया है, इसलिए तुझे यह दंड दिया जाता है कि तू स्वर्ग में नहीं रहने पाएगी।"

लेकिन नाटक के समाप्त हो जाने पर जब उर्वशी लज्जा से सिर नीचा किए खड़ी थी, तो सबके मन की बात जानने वाले इंद्र उसके पास गए और बोलो, "जिसे तुम प्रेम करती हो, वह राजर्षि रणक्षेत्र में सदा मेरी सहायता करने वाला है। कुछ उसका प्रिय भी करना ही चाहिए। इसलिए जब तक वह तुम्हारी संतान का मुँह न देखे, तब तक तुम उसके साथ रह सकती हो।"

इधर काशीराज की कन्या महारानी ने मान छोड़कर एक व्रत करना शुरू किया और उसे सफल करने के लिए महाराज को बुला भेजा। कंचुकी यह संदेश लेकर जब महाराज के पास पहुँचा तो संध्या हो चली थी। राजद्वार बड़ा सुहावना लग रहा था। नींद में अलसाये हुए मोर ऐसे लगते थे, जैसे–किसी कुशल मूर्तिकार ने उन्हें पत्थर में अंकित कर दिया हो। जगह जगह संध्या के पूजन की तैयारी हो रही थी। दीप सजाये जा रहे थे।

अनेक दासियाँ दीपक लिए महाराज के चारों ओर चली आ रही थीं। इसी समय कंचुकी ने आगे बढ़कर महाराज की जय-जयकार की और कहा, "देव, देवी निवेदन करती हैं कि चंद्रमा मणिहर्म्य-भवन से अच्छी तरह दिखाई देगा। इसलिए मेरी इच्छा है कि महाराज के साथ मैं वही से चंद्रमा और रोहिणी का मिलन देखूँ।" महाराज न उत्तर दिया, "देवी से कहना कि जो वह कहेंगी वह मैं करूँगा।"

यह कहकर वह विदूषक के साथ मणिहर्म्य-भवन की ओर चल पड़े। चंद्रमा उदय हो रहा था। उसे प्रणाम करके वे वहीं बैठ गए और उर्वशी के बारे में बातें करने लगे। उसी समय माया के वस्त्र ओढ़े उर्वशी भी चित्रलेखा के साथ उसी भवन की छत पर उतरी और उनकी बातें सुनने लगी, लेकिन जब वह प्रगट होने का विचार कर रही थी, तभी महारानी के आने की सूचना मिली। वह पूजा की सामग्री लिए और व्रत को वेशभूषा में अति सुंदर लग रही थीं। महाराज ने सोचा कि उस दिन मेरे मनाने पर भी जो रूठकर चली गई थी, उसी का पछतावा महारानी को ही रहा है। व्रत के बहाने यह मान छोड़कर मुझ पर प्रसन्न हो गई है।

महारानी ने आगे बढ़कर महाराज की जय-जयकार की और कहा, "मैं आर्यपुत्र को साथ लेकर एक विशेष व्रत करना चाहती हूँ, इसलिए प्रार्थना है कि

आप मेरे लिए कुछ देर कष्ट सहने की कृपा करें।" महाराज ने उत्तर में ऐसे प्रिय वचन कहे कि जिन्हें सुनकर महारानी मुसकुरा उठीं। उन्होंने सबसे पहले गंध-फलादि से चंद्रमा की किरणों की पूजा की, फिर पूजा के लड्डू विदूषक को देकर महाराज की पूजा की। उसके बाद बालीं, "आज मैं रोहिणी और चंद्रमा को साक्षी करके आर्यपुत्र को प्रसन्न कर रहीं हूँ। आज से आर्यपुत्र जिस किसी स्त्री की इच्छा करेंगे और जो भी स्त्री आर्यपुत्र की पत्नी बनना चाहेगी, उसके साथ मैं सदा प्रेम करूँगी।"

यह सुनकर उर्वशी को बड़ा संतोष हुआ। महाराज बोले, "देवी! मुझे किसी दूसरे को दे दो या अपना दास बनाकर रखो, पर तुम मुझे जो दूर समझ बैठी हो वह ठीक नहीं है।" महारानी ने उत्तर दिया, "दूर हो या न हो, पर मैंने व्रत करने का निश्चय किया था वह पूरा हो चुका है।"

यह कहकर वह दास-दासियों के साथ वहाँ से चली गईं। महाराज ने रोकना चाहा, पर व्रत के कारण वह रुकी नहीं। उनके जाने के बाद महाराज फिर उर्वशी की याद करने लगे। उदार-हृदय पतिव्रता महारानी की कृपा से अब उनके मिलने में जो रुकावट थी, वह भी दूर हो चुकी थी। उर्वशी ने, जो अबतक सबकुछ देख-सुन रही थी, इस सुंदर अवसर से लाभ उठाया और वह प्रकट हो गई। उसने चुपचाप पीछे से आकर महाराज की आँखें मींच लीं। महाराज ने उसको तुरंत पहचान लिया और अपने ही आसन पर बैठा लिया। तब उर्वशी ने अपनी सखी से कहा, "सखी! देवी ने महाराज को मुझे दे दिया है, इसलिए मैं इनकी विवाहिता स्त्री के समान ही इनके पास बैठी हूँ। तुम मुझे दुराचारिणी मत समझ बैठना।"

चित्रलेखा ने भी महाराज से अपनी सखी की भली प्रकार देखभाल करने की प्रार्थना की, जिससे वह स्वर्ग जाने के लिए घबरा न उठे, फिर सबसे मिल-भेंटकर वह स्वर्ग लौट गई।

इस प्रकार महाराज का मनोरथ पूरा हुआ। खुशी-खुशी वह भी विदूषक और उर्वशी के साथ वहाँ से अपने महल क ओर चले गए।

उर्वशी के आने के बाद महाराज पुरुरवा ने राजकाज मंत्रियों को सौंप दिया और स्वयं गंधमादन पर्वत पर चले गए। उर्वशी साथ ही थी। वहाँ वे बहुत दिन तक आनंद मनाते रहे। एक दिन उर्वशी मंदाकिनी के तट पर बालू के पहाड़ बना-बनाकर खेल रही थी कि अचानक उसने देखा- महाराज एक विद्याधर की परम सुंदर बेटी की ओर एकटक देख रहे हैं। बस वह इसी बात पर रूठ गई

और रूठी भी ऐसी कि महाराज के बार-बार मनाने पर भी नहीं मानी। उन्हें छोड़ कर चली गई। वहाँ से चलकर वह कुमार वन में आई। इस वन में स्त्रियों को आने की आज्ञा नहीं थी। ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर भगवान कार्तिकेय यहाँ रहते थे। उन्होंने यह नियम बना दिया था कि जो भी स्त्री यहाँ आएगी वह लता बन जाएगी। इसलिए जैसे-ही उर्वशी ने उस वन में प्रवेश किया, वह लता बन गई।

इधर महाराज उसके वियोग में पागल ही हो गए और अपने मन की व्यथा प्रकट करते हुए इधर-उधर घूमने लगे। कभी वह समझते कि कोई राक्षस उर्वशी को उठाए लिए जा रहा है।

बस वह उसे ललकारते, लेकिन तभी उन्हें पता लगता कि जिसे वह राक्षस समझ बैठे थे कि वह तो पानी से भरा हुआ बादल है। उन्होंने इंद्रधनुष को गलती से राक्षस का धनुष समझ लिया है। ये बाण नहीं बरस रहे हैं, ये बूँदें टपक रही हैं और वह जो कसौटी पर सोने की रेखा के समान चमक रही है, वह भी उर्वशी नहीं है, बिजली है।

कभी सोचते, कहीं क्रोध में आकर वह अपने दैवी प्रभाव से छिप तो नहीं गई। कभी हरी घास पर पड़ी हुई बीरबहूटियों को देखकर यह समझते कि ये उसके ओठों के रंग से लाल हुए आँसुओं की बूँदें हैं। अवश्य वह इधर से ही गई हैं। कभी वह मोर को देखकर उससे उर्वशी का पता पूछते, "अरे मोर! मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि अगर घूमते-फिरते तुमने मेरी पत्नी को देखा हो तो मुझे बता दो।"

लेकिन मोर उत्तर न देकर नाचने लगता। महाराज उसके पास से हटकर कोयल के पास जाते। पक्षियों में कोयल सबसे चतुर समझी जाती है। उसके आगे घुटने टेककर वह कहते, "हे मीठा बोलने वाली सुंदर कोयल! यदि तुमने इधर-उधर घूमती हुई उर्वशी को देखा हो तो बता दो। तुम तो रूठी हुई स्त्रियों का मान दूर करने वाली हो। तुम या तो उसे मेरे पास ले आओ या झटपट मुझे ही उसके पास पहुँचा दो। क्या कहा तुमने? वह मुझसे क्यों रूठ गई है। मुझे तो एक भी बात ऐसी याद नहीं आती कि जिस पर वह रूठी हो। अरे, स्त्रियाँ तो वैसे ही अपने पतियों पर शासन जमाया करती है। यह जरूरी नहीं कि पति कोई अपराध ही करे तभी वे क्रोध करेंगी।"

लेकिन कोयल भी इन बातों का क्या जवाब देती! वह अपने काम में लगी रहती। दूसरे का दु:ख लोग कम समझते हैं। राजा कहते, "अच्छा बैठी रहो सुख से! हम ही यहाँ से चले जाते हैं।"

फिर सहसा उन्हें दक्खिन की ओर बिछुओं की सी झनझन सुनाई देती, लेकिन पता लगता वह तो राजहंसों की कूक है, जो बादलों की अँधियारी देखकर मानससरोवर जाने को उतावले हो रहे हैं। वह उनके पास जाकर कहते, "तुम मानससरोवर बाद में जाना। ये जो तुमने कमलनाल सँभाली है, इन्हें भी अभी छोड़ दो। पहले तुम मुझे उर्वशी का समाचार बताओ।

सज्जन लोग अपने मित्रों की सहायता करना अपने स्वार्थ से बढ़कर अच्छा समझते हैं। हे हंस! तुम तो ऐसे ही चलते हो, जैसे–उर्वशी चलती है। तुमने उसकी चाल कहाँ से चुराई। अरे, तुम तो उड़ गए। (हँसकर) तुम समझ गए कि मैं चोरों को दंड देनेवाला राजा हूँ। अच्छा चलूँ, कहीं और खोजूँ।"

फिर वह चकवे के पास जा पहुँचते। उससे वही प्रश्न करते, लेकिन उन्हें लगता जैसे–चकवा उनसे पूछ रहा है – "तुम कौन हो?" वह कहते, "अरे, तुम मुझे नहीं जानते? सूर्य मेरे नाना और चंद्रमा मेरे दादा हैं। उर्वशी और धरती ने अपने-आप मुझे अपना स्वामी बनाया है। में वहीं पुरुरवा हूँ।" लेकिन चकवा भी चुप रहता। महाराज वहाँ से हटकर कमल पर मंडराते हुए भौरों से पूछने लगते, पर वे भी क्या जवाब देते! फिर उन्हें हाथी दिखाई दे जाता। उसके पास जाकर वह पूछते, "हे मतवाले हाथी! तुम दूर तक देख सकते हो। क्या तुमने सदा जवान रहने वाली उर्वशी को देखा है। तुम मेरे समान बलवान हो। मैं राजाओं का स्वामी हूँ। तुम गजों के स्वामी हो। तुम दिन-रात अपना दान यानी मद बहाया करते हो, मेरे यहाँ भी दिन-रात दान दिया जाता है। तुमसे मुझे बड़ा स्नेह हो गया है। अच्छा, सुखी रहो। हम तो जा रहे हैं।"

और फिर उनको दिखाई दे जाता एक सुहावना पर्वत। उसीसे पूछने लगते, "हे पर्वतों के स्वामी! क्या तुमने मुझसे बिछुड़ी हुई सुंदरी उर्वशी को कहीं इस वन में देखा है। उन्हें ऐसा लगता जैसे–पर्वतराज ने कुछ उत्तर दिया है। उन्हें खुशी होती, पर तभी मालूम होता कि वह पर्वतराज का उत्तर नहीं था, बल्कि पहाड़ की गुफा से टकराकर निकलने वाली उन्हीं के शब्दों की गूँज थी।

यहाँ से हटे तो नदी दिखाई दे गई। उसी से उर्वशी की तुलना करने लगे, लेकिन जब वह भी कुछ नहीं बोली तो हिरन के पास जा पहुँचे। उसने भी उनकी बातें अनसुनी करके दूसरी ओर मुँह फेर लिया। ठीक ही है, जब खोटे दिन आते हैं तो सभी दुरदुराने लगते हैं, लेकिन तभी उन्होंने लाल अशोक के पेड़ को देखा। उससे भी वही प्रश्न किया और जब वह हवा से हिलने लगा तो समझे कि वह मना कर रहा है – उसने उर्वशी को नहीं देखा।

इसी प्रकार पागलों की तरह प्रलाप करते हुए, जब वह यहाँ से मुड़े तो उन्हें एक पत्थर की दरार में लाल मणि-सा कुछ दिखाई दिया।

सोचने लगे कि न तो यह शेर से मारे हुए हाथी का मांस हो सकता है और न आग की चिनगारी। मांस इतना नहीं चमकता और चूँकि अभी भारी वर्षा हो चुकी है, इसलिए आग के रहने का कोई सवाल ही नहीं उठता। यह तो अवश्य लाल अशोक के समान लाल मणि है। इसे देखकर मेरा मन ललचा रहा है।

यह सोचकर वह आगे बढ़े और मणि को निकाल लिया, लेकिन फिर ध्यान आया कि जब उर्वशी ही नहीं है तो मणि का क्या होगा! इसलिए उसे गिरा दिया। उसी समय नेपथ्य में से किसी की वाणी सुनाई दी, "वत्स! इसे ले लो, ले लो, यह प्रियजनों को मिलाने वाली है और पार्वती के चरणों की लाली से बनी है, जो इसे अपने पास रखता है, उसे वह शीघ्र ही प्रिय से मिलवा देती है।"

यह वाणी सुनकर महाराज चकित रह गए। उन्हें जान पड़ा कि मानो किसी मुनि ने यह कृपा की है। उन्होंने उस अज्ञात मुनि को धन्यवाद दिया और मणि को उठा लिया। इसी समय उनकी दृष्टि बिना फूलवाली एक लता पर पड़ी। न जाने क्यों उनका मन उछल पड़ा। उन्हें सुख मिला। वह उन्हें उर्वशी के समान दिखाई पड़ी और जैसे-ही उन्होंने उसे छुआ, उर्वशी सचमुच वहाँ आ गईय पर उनकी आँखें बंद थीं। उसी तरह कुछ देर बोलते रहे। जब आँखें खोली और उर्वशी को देखा तो वह मूर्च्छित होकर गिर पड़े। उर्वशी भी रोने लगी और उन्हें धीरज बँधाने लगी। कुछ देर बाद महाराज की मूर्च्छा दूर हुई तो उन्हें कार्तिकेय के श्राप के कारण उर्वशी के लता बन जाने के रहस्य का पता लगा। यह भी पता लगा कि पार्वती के चरणों की लाली से पैदा होनेवाली मणि से ही इसे शाप से मुक्ति मिली है।

उर्वशी उनसे बार-बार क्षमा माँगने लगी, "मुझे क्षमा कर दीजिए, क्यों कि मैंने ही क्रोध करके आपको इतना कष्ट पहुँचाया।" महाराज बोले, "कल्याणी! तुम क्षमा क्यों माँगती हो! तुम्हें देखते ही मेरी आत्मा तक प्रसन्न हो गई है।" और फिर उन्होंने उसे वह मणि दिखाई, जिसके कारण उसका श्राप दूर हो गया था। उर्वशी ने उस मणि को सिर पर धारण किया तो उसके प्रकाश में उसका मुख अरुण-किरणों से चमकते हुए कमल के समान सुहावना लगने लगा।

इसी समय उर्वशी ने याद दिलाया, "हे प्रिय बोलनेवाले! आप बहुत दिनों से प्रतिष्ठान पुरी से बाहर हैं। आपकी प्रजा इसके लिए मुझे कोस रही होगी। इसलिए आइए अब लौट चलें।

महाराज ने उत्तर दिया, "जैसा तुम चाहो।" और लौट पड़े।

नंदन वन आदि देवताओं के बनों में घूमकर महाराज पुरुरवा फिर अपने नगर में लौट आए। नागरिकों ने उनका खूब स्वागत-सत्कार किया और वह प्रसन्न होकर राज करने लगे। संतान को छोड़ कर उन्हें अब और किसी बात की कमी नहीं थी। उन्हीं दिनों एक दिन एक सेवक महारानी के माथे की मणि ताड़ की पिटारी में रखे ला रहा था कि इतने में एक गिद्ध झपटा और उसे मांस का टुकड़ा समझकर उठाकर उड़ गया। यह समाचार पाकर महाराज आसन छोड़कर दौड़ पड़े। पक्षी अभी दिखाई दे रहा था। उन्होंने अपना धनुषबाण लाने की आज्ञा दी।

लेकिन जबतक धनुष आया तब तक वह पक्षी बाण की पहुँच से बाहर निकल चुका था और ऐसा लगने लगा था मानो रात के समय घने बादलों के दल के साथ मंगल तारा चमक रहा हो। यह देखकर महाराज ने नगर में यह घोषणा करवाने की आज्ञा दी कि जब यह चोर पक्षी संध्या को अपने घोंसले में पहुँचे तो इसकी खोज की जाए।

यह वही मणि थी, जिसके कारण उर्वशी और महाराज का मिलन हुआ था। इसलिए महाराज उसका विशेष आदर करते थे। वह यह बात विदूषक को बता ही रहे थे कि कंचुकी ने आकर महाराज की जय-जयकार की। उसने कहा, "आपके क्रोध ने बाण बनकर इस पक्षी को मार डाला और इस मणि के साथ यह धरती पर गिर पड़ा।"

महाराज ने उस मणि को आग में शुद्ध करके पेटी में रखने की आज्ञा दी और यह जानने के लिए कि बाण किसका है, उस पर अंकित नाम पढ़ने लगे। पढ़कर वह सोच में पड़ गए। उस पर लिखा हुआ था - यह बाण पुरुरवा और उर्वशी के धनुर्धारी पुत्र का है। उसका नाम आयु है और वह शत्रुओं के प्राण खींचने वाला है।

विदूषक यह सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने महाराज को बधाई दी, पर वह तो कुछ समझ ही नहीं पा रहे थे।

यह पुत्र कैसे पैदा हुआ। वह तो कुछ जानते ही नहीं। शायद उर्वशी ने दैवी-शक्ति से इस बात को छिपा रखा हो, पर उसने पुत्र को क्यों छिपा रखा?

वह इसी उधेड़बुन में थे कि च्यवन ऋषि के आश्रम से एक कुमार को लिये किसी तपस्विनी के आने का समाचार मिला। महाराज ने उन्हें वहीं बुला भेजा और कुमार को देखते ही उनकी आँखें भर आईं। हृदय में प्रेम उमड़ पड़ा और उनका मन करने लगा कि उसे कसकर छाती से लगा ले, पर ऊपर से वह

शांत ही बने रहे। उन्होंने तापसी को प्रणाम किया आशीर्वाद देकर तापसी ने कुमार से कहा, "बेटा, अपने पिताजी को प्रणाम करो।"

कुमार ने ऐसा ही किया। महाराज ने उसे गदगद होकर आशीर्वाद दिया और तब तापसी बोली, "महाराज! जब यह पुत्र पैदा हुआ तभी कुछ सोचकर उर्वशी इसे मेरे पास छोड़ आई थी। क्षत्रिय-कुमार के जितने संस्कार होते हैं, वे सब भगवान च्यवन ने करा दिए हैं। विद्याधन के बाद धनुष चलाना भी सिखा दिया गया है, लेकिन आज जब यह फूल और समिधादि लाने के लिए ऋषिकुमारों के साथ जा रहा था तो इसने आश्रम के नियमों के विरुद्ध काम कर डाला।"

विदूषक ने घबराकर पूछा, "क्या कर डाला?"

तापसी बोली, "एक गिद्ध मांस का टुकड़ा लिए हुए पेड़ पर बैठा था। उस पर लक्ष्य बाँधकर इसने बाण चला दिया। जब भगवान च्यवन ने यह सुना तो उन्होंने उर्वशी की यह धरोहर उसे सौंप आने की आज्ञा दी। इसलिए मैं उर्वशी से मिलने आई हूँ।"

महाराज ने तुरंत उर्वशी को बुला भेजा और पुत्र को गले से लगाकर प्यार करने लगे। उर्वशी ने आते ही दूर से उसे देखा तो यह सोच में पड़ गई, पर तापसी को उसने पहचान लिया। अब तो वह सब कुछ समझ गई। पिता के कहने पर जब पुत्र ने माता को प्रणाम किया तो उसने पुत्र को छाती से चिपका लिया। तापसी ने उसके स्वामी के सामने उसका पुत्र उसे सौंपते हुए कहा, "ठीक से पढ़-लिखकर अब यह कुमार कवच धारण करने योग्य हो गया है, इसलिए तुम्हारे स्वामी के सामने ही तुम्हारी धरोहर तुम्हें सौंप रही हूँ और अब जाना भी चाहती हूँ। आश्रम का बहुत-सा काम रुका पड़ा है।"

जाते समय कुमार भी साथ जाने के लिए मचल उठा, पर जब सबने समझाया तो वह आश्रम-जैसी सरलता से तापसी से बोला, "तो आप बड़े-बड़े पंखों वाले मेरे उस मणिकंठक नाम के मोर को भेज देना। वह मेरी गोद में सोकर मेरे हाथों से अपना सिर खुजलाये जाने का आनंद लिया करता था।"

तापसी हँस पड़ी और ऐसा ही करने का वचन देकर चली गई। महाराज पुत्र पाकर बड़े प्रसन्न हुए, परंतु उर्वशी रोने लगी। यह देखकर महाराज घबरा उठे और इस विषाद का कारण पूछने लगे। उर्वशी बोली, "बहुत दिन हुए, आपसे प्रेम करने पर भरत मुनि ने मुझे शाप दिया था। उस शाप से मैं बहुत घबरा गई थी, तब देवराज इंद्र ने मुझे आज्ञा दी थी कि जब हमारे प्यारे मित्र राजर्षि तुमसे उत्पन्न हुए पुत्र का मुँह देख लें तब तुम फिर मेरे पास लौट आना। आपसे बिछोह होने

के डर से ही मैं इस कुमार को पैदा होते ही च्यवन ऋषि के आश्रम में पढ़ने-लिखाने के बहाने छोड़ आई थी। आज उन्होंने इसे पिता की सेवा करने के योग्य समझकर लौटा दिया है। बस आज तक ही मैं महाराज के साथ रह सकती थी।"

यह कथा सुनकर सबको बड़ा दु:ख हुआ। महाराज तो मूर्छित हो गए। जब जागे तो उन्होंने तुरंत ही पुत्र को राज्य सौंपकर तपोवन में जाकर रहने की इच्छा प्रगट की। लेकिन इसी समय नारद मुनि ने वहाँ प्रवेश किया। आकाश से उतरते हुए पीली जटावाले, कंधे पर चंद्रमा की कला के समान उजला जनेऊ और गले में मोतियों की माला पहने, वह ऐसे लगते थे, जैसे सुनहरी शाखा वाला कोई चलता-फिरता कल्पवृक्ष चला आ रहा हो। पूजा-अभिवादन के बाद उन्होंने कहा कि मैं देवराज इंद्र का संदेशा लेकर आया हूँ। वह अपनी दैवी शक्ति से सबके मन की बातें जाननेवाले हैं। उन्होंने जब देखा कि आप वन जाने की तैयारी कर रहे हैं तो उन्होंने कहलाया है-"तीनों कालों को जाननेवाले मुनियों ने भविष्यवाणी की है कि देवताओं और दानवों में भयंकर युद्ध होनेवाला है। युद्ध-विद्या में कुशल आप हम लोगों की सदा सहायता करते ही रहें इसलिए आप शस्त्र न छोड़ें। उर्वशी जीवन भर आपके साथ रहेगी।"

देवराज इंद्र का यह संदेश सुनकर उर्वशी और पुरुरवा दोनों बहुत प्रसन्न हुए। इंद्र ने कुमार आयु के युवराज बनने के उत्सव के लिए भी सामग्री भेजी थी। उसी से रंभा ने आयु का अभिषेक किया।

अभिषेक के बाद कुमार ने सबको प्रणाम किया और उनका आशीर्वाद पाया। लेकिन बड़ी महारानी वहाँ नहीं थीं। इसलिए उर्वशी ने आयु से कहा, "चलो बेटा! बड़ी माँ को प्रणाम कर आओ।" और वह उसे लेकर बड़ी महारानी के पास चली। महाराज बोले, "ठहरो, हम सब लोग साथ ही देवी के पास चलते हैं।" लेकिन चलने से पहले नारद मुनि ने उनसे पूछा, "हे राजन। इंद्र आपकी और कौन सी इच्छा पूरी करें।"

राजा बोले, "इंद्र की प्रसन्नता से बढ़कर और मुझे क्या चाहिए, फिर भी मैं चाहता हूँ कि जो लक्ष्मी और सरस्वती सदा एक-दूसरे से रूठी रहती है, सज्जनों के कल्याण के लिए सदा एकसाथ रहने लगे। सब आपत्तियाँ दूर हो जाए, सब फलें-फूलें, सबके मनोरथ पूरे हों और सब कहीं सुख-ही-सुख फैल जाए।

10

स्वप्नवासवदत्ता

स्वप्नवासवदत्ता (वासवदत्ता का स्वप्न), महाकवि भास का प्रसिद्ध संस्कृत नाटक है। इसमें छः अंक हैं। भास के नाटकों में यह सबसे उत्कृष्ट है। क्षेमेन्द्र के बृहत्कथामंजरी तथा सोमदेव के कथासरित्सागर पर आधारित यह नाटक समग्र संस्कृतवांग्मय के दृश्यकाव्यों में आदर्श कृति माना जाता है।

भास विरचित रूपकों में यह सर्वश्रेष्ठ है। वस्तुतः यह भास की नाट्यकला का चूडान्त निदर्शन है। यह छः अंकों का नाटक है। इसमें प्रतिज्ञायौगन्धारायण से आगे की कथा का वर्णन है। इस नाटक का नामकरण राजा उदयन के द्वारा इइस्वप्न में वासवदत्ता के दर्शन पर आधारित है। स्वप्न वाला दृश्य संस्कृत नाट्य साहित्य में अपना विषेष स्थान रखता है।

यह नाटक नाट्यकला की सर्वोत्तम परिणिति है। वस्तु, नेता एवं रस – तीनों ही दृष्टि से यह उत्तम कोटि का है। नाटकीय संविधान, कथोपकथन, चरित्र–चित्रण, प्रकृति वर्णन तथा रसों का सुन्दर सामन्जस्य इस नाटक में पूर्ण परिपाक को प्राप्त हुये हैं। मानव हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावदशाओं का चित्रण इस नाटक में सर्वत्र देखा जा सकता है। नाटक का प्रधान रस श्रृंगार है तथा हास्य की भी सुन्दर उद्भावना हुई है।

कथानक

पुरुवंशीय उदयन वत्स राज्य के राजा थे। उनकी राजधानी का नाम कौशाम्बी था। उन्हीं दिनों अवन्ति राज्य, जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी, में

प्रद्योत नाम के राजा राज्य करते थे। महाराज प्रद्योत एक अत्यन्त विशाल सैन्य-बल के स्वामी थे, इसलिये उन्हें महासेन के नाम से भी जाना जाता था। महाराज उदयन के पास घोषवती नामक एक दिव्य वीणा थी। उनका वीणा-वादन अपूर्व था। एक बार प्रद्योत के अमात्य शालंकायन ने छल करके उदयन को कैद कर लिया। उदयन के वीणा-वादन की ख्याति सुनकर प्रद्योत ने उन्हे अपनी पुत्री वासवदत्ता के लिये वीणा-शिक्षक नियुक्त कर दिया। इस दौरान उदयन और वासवदत्ता मे मध्या एक दूसरे के प्रति आसक्ति जागृत हो गई।

इधर उदयन के मन्त्री यौगन्धरायण उन्हें कैद से छुड़ाने के प्रयास में थे। यौगन्धरायण के चातुर्य से उदयन, वासवदत्ता को साथ ले कर, उज्जयिनी से निकल भागने में सफल हो गये और कौशाम्बी आकर उन्होंने वासवदत्ता से विवाह कर लिया। उदयन वासवदत्ता के प्रेम में इतने खोये रहने लगे कि उन्हें राज-कार्य की सुधि ही नहीं रही। इस स्थिति का लाभ उठा कर आरुणि नामक उनके क्रूर शत्रु ने उनके राज्य को उनसे छीन लिया। आरुणि से उदयन के राज्य को वापस लेने के लिये, उनके मन्त्री यौगन्धरायण और रुम्णवान् प्रयत्नशील हो गये, किन्तु बिना किसी अन्य राज्य की सहायता के आरुणि को परास्त नहीं किया जा सकता था। वासवदत्ता के पिता प्रद्योत उदयन से नाराज थे और यौगन्धरायण को उनसे किसी प्रकार की उम्मीद नहीं थी।

यौगन्धरायण को ज्योतिषियों के द्वारा पता चलता है कि मगध-नरेश की बहन पद्मावती का विवाह जिन नरेश से होगा, वे चक्रवर्ती सम्राट हो जायेंगे। यौगन्धरायण ने सोचा कि यदि किसी प्रकार से पद्मावती का विवाह उदयन से हो जाये तो उदयन को अवश्य ही उनका वत्स राज्य आरुणि से वापस मिल जायेगा, साथ ही वे चक्रवर्ती सम्राट भी बन जायेंगे।

यौगन्धरायन महाराज उदयन के विवाह पद्मावती से करवा देने की अपनी योजना के विषय में वासवदत्ता को बताया। पति की मंगलकामना चाहने वाली वासवदत्ता इस विवाह के लिये राजी हो गईं, किन्तु यौगन्धरायण भली-भाँति जानते थे कि उदयन अपनी पत्नी वासवदत्ता से असीम प्रेम करते हैं और वे अपने दूसरे विवाह के लिये कदापि राजी नहीं होंगे। अतएव उन्होंने वासवदत्ता और एक अन्य मन्त्री रुम्णवान् के साथ मिलकर एक योजना बनाई। योजना के अनुसार उदयन को राजपरिवार तथा विश्वासपात्र सहयोगियों के साथ लेकर आखेट के लिये वन में भेजा गया, जहाँ वे सभी लोग शिविर में रहने लगे। एक दिन, जब उदयन मृगया के लिये गए हुए थे, शिविर में आग लगा दी गई। उदयन के वापस

लौटने पर रुम्णवान ने उन्हें बताया कि वासवदत्ता शिविर में लगी आग में फँस गईं थीं और उन्हें बचाने के लिये यौगन्धरायण वहाँ घुसे, जहाँ पर दोनों ही जल मरे। उदयन इस समाचार से अत्यन्त दु:खी हुए, किन्तु रुम्णवान तथा अन्य अमात्यों ने अनेकों प्रकार से सांत्वना देकर उन्हें सम्भाला।

इधर यौगन्धरायन वासवदत्ता को साथ लेकर परिव्राजक के वेश में मगध राजपुत्री पद्मावती के पास पहुँच गए और प्रच्छन्न वासवदत्ता (अवन्तिका) को पद्मावती के पास धरोहर के रूप में रख दिया। अवन्तिका पद्मावती की विशेष अनुग्रह पात्र बन गईं। उन्होंने महाराज उदयन का गुणगान कर कर के पद्मावती को उनके प्रति आकर्षित कर लिया।

उदयन दूसरा विवाह नहीं करना चाहते थे, किन्तु रुम्णवान् ने उन्हें समझा-बुझा कर पद्मावती से विवाह के लिये राजी कर लिया। इस प्रकार उदयन का विवाह पद्मावती के साथ हो गया। विवाह के पश्चात मगध-नरेश की सहायता से उदयन ने आरुणि पर आक्रमण कर दिया और उसे परास्त कर अपना राज्य वापस ले लिया। अन्त में अत्यन्त नाटकीय ढंग से यौगन्धरायण और वासवदत्ता ने स्वयं को प्रकट कर दिया। यौगन्धरायण ने अपनी धृष्टता एवं दुस्साहस के लिये क्षमा निवेदन किया।

इस नाटक के एक दृश्य में उदयन समुद्रगृह में विश्राम करते रहते हैं। वे स्वप्न में 'हा वासवदत्ता', 'हा वासवदत्ता' पुकारते रहते हैं, उसी समय अवन्तिका (वासवदत्ता) वहाँ पहुँच जाती हैं। वे उनके लटकते हुये हाथ को बिस्तर पर रख कर निकल जाती हैं, किन्तु उसी समय उदयन की नींद खुल जाती है। वे निश्चय नहीं कर पाते कि उन्होंने वास्तव में वासवदत्ता को देखा है अथवा स्वप्न में। इसी घटना के के कारण नाटक का नाम 'स्वप्नवासवदत्ता' रखा गया।

11

उरुभंग

उरुभंग (संस्कृत: ऊरुभंगम्), (अक्षरश: अर्थ- "घुटनों का टूटना"), भास द्वारा लिखा गया संस्कृत नाटक है। यह दूसरी से तीसरी शताब्दी ईसवी के बीच लिखा गया। यह सुप्रसिद्ध महाकाव्य महाभारत पर आधारित है। उरुभंग भीम व दुर्योधन के युद्ध के दौरान व उसके बाद के दुर्योधन के चरित्र पर केन्द्रित है। यद्यपि उरुभंग की केन्द्रीय पटकथा वही है, जो महाभारत में है, परन्तु भास द्वारा कुछ परिप्रेक्ष्यों को बदल दिये जाने से कथा का निरूपण बदल गया है। इनमें सबसे चरम बदलाव है- भास द्वारा दुर्योधन का चित्रण, जो कि महाभारत में एक खलनायक की तरह दिखता है, परन्तु उरुभंग में अपेक्षाकृत ज्यादा मानवीयगुणोपेत दिखाया गया है। जबकि संस्कृत नाट्य में दु:खान्त नाटक दुर्लभ होते हैं, भास द्वारा कथा का दुर्योधन वाला पक्ष प्रदर्शित करना इस कथा में दु:खान्तकीय तत्व डाल देता है।

सारांश

उरुभंग प्रसिद्ध महाकाव्य महाभारत से कुछ भिन्न है, जबकि मूल ग्रन्थ में दुर्योधन खलनायक है, उरुभंग में वह एक अलग प्रकाश में दिखाया गया है, हालाँकि उसके मूल बुरे कार्यों से उसे बख्शा नहीं गया है, परन्तु उसे नायकीय गुणों से युक्त चरित्र की तरह दिखाया गया है। यह नाटक उसकी मृत्यु के पहले होने वाली घटनाओं पर केंद्रित है, जब दुर्योधन अपने भूतकाल पर पछताता है,

अपने परिवार के साथ सहानुभूति का रुख कर लेता है, तथा युद्ध की व्यर्थता का अनुभव करता है।

नाटक की शुरुआत में तीन सैनिक होते हैं, जो कि कौरव व पांडवों के बीच युद्ध पर आश्चर्य से देख रहे होते हैं। वे अपने समक्ष दृश्य को गहन विशदता के साथ वर्णन करते हैं, वे बारी बारी से वर्णन तथा उसपर विस्मयाभिव्यक्ति करते जाते हैं। जैसे–जैसे वे युद्धक्षेत्र में चलते हैं, वे मँझले पांडव भीम तथा कौरव दुर्योधन के बीच युद्ध तक पहुँच जाते हैं।

दुर्योधन

फिर वे सैनिक भीम–दुर्योधन युद्ध का वर्णन करने लगते हैं। दर्शकगण यह युद्ध पूर्णतया इन तीन सैनिकों के वर्णन के माध्यम से देख रहे हैं। अन्ततः भीम दुर्योधन के अविरत प्रहारों से गिर पड़ता है। दुर्योधन भीम को मारने से इसलिए रुक जाता है कि वह भूमि पर पड़ा है, जबकि वह भीम द्वारा नियम लाँघने से अपने घुटने तुड़वा बैठता है।

12

मुद्राराक्षस

मुद्राराक्षस संस्कृत का ऐतिहासिक नाटक है, जिसके रचयिता विशाखदत्त हैं। इसकी रचना चौथी शताब्दी में हुई थी। इसमें चाणक्य और चन्द्रगुप्त मौर्य संबंधी ख्यात वृत्त के आधार पर चाणक्य की राजनीतिक सफलताओं का अपूर्व विश्लेषण मिलता है। इस कृति की रचना पूर्ववर्ती संस्कृत-नाट्य परंपरा से सर्वथा भिन्न रूप में हुई है- लेखक ने भावुकता, कल्पना आदि के स्थान पर जीवन-संघर्ष के यथार्थ अंकन पर बल दिया है। इस महत्त्वपूर्ण नाटक को हिंदी में सर्वप्रथम अनूदित करने का श्रेय भारतेंदु हरिश्चंद्र को है। यों उनके बाद कुछ अन्य लेखकों ने भी इस कृति का अनुवाद किया, किंतु जो ख्याति भारतेंदु हरिश्चंद्र के अनुवाद को प्राप्त हुई, वह किसी अन्य को नहीं मिल सकी।

इसमें इतिहास और राजनीति का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया गया है। इसमें नन्दवंश के नाश, चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण, राक्षस के सक्रिय विरोध, चाणक्य की राजनीति विषयक सजगता और अन्ततः राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त के प्रभुत्व की स्वीकृति का उल्लेख हुआ है। इसमें साहित्य और राजनीति के तत्त्वों का मणिकांचन योग मिलता है, जिसका कारण सम्भवतः यह है कि विशाखदत्त का जन्म राजकुल में हुआ था। वे सामन्त बटेश्वरदत्त के पौत्र और महाराज पृथु के पुत्र थे। 'मुद्राराक्षस' की कुछ प्रतियों के अनुसार वे महाराज भास्करदत्त के पुत्र थे। इस नाटक के रचना-काल के विषय में तीव्र मतभेद हैं, अधिकांश विद्धान इसे चौथी-पाँचवी शती की रचना मानते हैं, किन्तु कुछ ने इसे सातवीं-आठवीं

शती की कृति माना है। संस्कृत की भाँति हिन्दी में भी 'मुद्राराक्षस' के कथानक को लोकप्रियता प्राप्त हुई है, जिसका श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को है।

परिचय

विशाखदत्त अथवा विशाखदेव का काल-निर्णय अभी नहीं हो पाया है। वैसे, वे भास, कालिदास, हर्ष और भवभूति के परवर्ती नाटककार थे और प्रस्तुत नाटक की रचना अनुमानत: छठी से नवीं शताब्दी के मध्य हुई थी। सामन्त वटेश्वरदत्त के पौत्र और महाराज पृथु अथवा भास्करदत्त के पुत्र होने के नाते उनका राजनीति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था, फलत: 'मुद्राराक्षस' का राजनीतिप्रधान नाटक होना आकस्मिक संयोग नहीं है, वरन् इसमें लेखक की रूचि भी प्रतिफलित है। विशाखदत्त की दो अन्य रचनाओं- देवी चन्द्रगुप्तम्, तथा राघवानन्द नाटकम् - का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु उनकी प्रसिद्धि का मूलाधार 'मुद्राराक्षस' ही है।

'देवी चन्द्रगुप्तम्' का उल्लेख रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने 'नाट्यदर्पण' में, भोज ने ' श्रृंगारप्रकाश' में और अभिनवगुप्त ने 'नाटकशास्त्र' की टीका में किया है। यह नाटक ध्रुवदेवी और चन्द्रगुप्त द्वितीय के ऐतिहासिक वृत्त पर आधारित है, किन्तु अभी इसके कुछ अंश ही प्राप्त हुए हैं। 'राघवानन्द नाटकम्' की रचना राम-चरित्र को लेकर की गई होगी, किन्तु इसके भी एक-दो स्फुट छन्द ही प्राप्त हुए हैं।

'मुद्राराक्षस' की रचना पूर्ववर्ती संस्कृत-नाट्यपरम्परा से सर्वथा भिन्न रूप में हुई है। वैसे-विशाखदत्त भारतीय नाटयशास्त्र से सुपरिचित थे और इसी कारण उन्हें 'मुद्राराक्षस' में 'कार्य' की एकता का निर्वाह करने में अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है, यद्यपि घटना-कम की व्यापकता को देखते हुए यह उपलब्धि सन्दिग्ध हो सकती थी। किन्तु पूर्ववर्ती लेखकों द्वारा निर्धारित प्रतिमानों का यथावत् अनुकरण भी उन्हें अभीष्ट नहीं था। इसीलिए उन्होंने भावुकता, कल्पना आदि के आश्रय द्वारा कथानक को अतिरिक्त जीवन-संघर्ष में प्राप्त होने वाली सफलता-असफलता का यथार्थमूलक चित्रण किया है। उन्होंने कथानक को शुद्ध ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रदान की है, स्वच्छन्दतावादी तत्वों पर उनका बल नहीं रहा है। आभिजात्यवादी दृष्टिकोण न केवल कथा-संयोजन और चरित्र-चत्रिण में दृष्टिगत होता है, अपितु उनकी सुस्पष्ट तथा सशक्त पद-रचना भी इसी प्रवृत्ति की देन है। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार मल्लिनाथ की

व्याख्याओं के अभाव में कालिदास के कृतित्व का अनुशीलन अपूर्ण होगा, उसी प्रकार 'मुद्राराक्षस' पर ढुंढिराज की टीका भी प्रसिद्ध है।

कथानक

'मुद्राराक्षस' की कथावस्तु प्रख्यात है। इस नाटक के नामकरण का आधार यह घटना है - अपनी मुद्रा को अपने ही विरूद्ध प्रयुक्त होते हुए देखकर राक्षस का स्तब्ध अथवा विवश हो जाना। इसमें चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण के उपरान्त चाणक्य द्वारा राक्षस की राजनीतिक चालों को विफल कर देने की कथा को सात अंकों में सुचारू रूप में व्यक्त किया गया है। नाटककार ने चाणक्य और राक्षस की योजना-प्रतियोजनाओं को पूर्ण राजनीतिक वैदग्ध्य के साथ उपस्थापित किया है। उन्होंने नाटकगत घटनाकम के आयोजन में स्वाभाविकता, जिज्ञासा और रोचकता की ओर उपयुक्त ध्यान दिया है। तत्कालीन राजनीतिज्ञों द्वारा राजतंत्र के संचालन के लिए किस प्रकार के उपायों का आश्रय लिया जाता था, इसका नाटक में रोचक विवरण मिलता है। चाणक्य के सहायकों ने रूचि-अरूचि अथवा स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति की चिन्ता न करते हुए अपने लिए निर्दिष्ट कार्यों का जिस तत्परता से निर्वाह किया, वह कार्य सम्बन्धी एकता का उत्तम उदाहरण है। घटनाओं की धारावाहिकता इस नाटक का प्रशंसनीय गुण है, क्योंकि षड्यन्त्र-प्रतिषड्यंत्रों की योजना में कहीं भी व्याघात लक्षित नहीं होता। यद्यपि चाणक्य की कुटिल चालों का वर्णन होने से इसका कथानक जटिल है, किन्तु नाटककार ने इसे पूर्वापर क्रम-समन्वित रखने में अद्‌भुत सफलता प्राप्त की है। इसमें कार्यावस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों सन्धियों और वृत्तियों का नाटयशास्त्रविहित प्रयोग हुआ है।

कार्यावस्थाएँ

भारतीय आचार्यों ने नाटक ने कथा-विकास की पांच अवस्थाएँ मानी हैं - प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम। नाटक का आरम्भ रूचिर और सुनियोजित होना चाहिए, क्योंकि नाटक की परवर्ती घटनाओं की सफलता इसी पर निर्भर करती है। 'मुद्राराक्षस' में निपुणक द्वारा चाणक्य को राक्षस की मुद्रा देने तक की कथा 'प्रारम्भ' के अन्तर्गत आएगी। 'प्रयत्न' अवस्था के अन्तर्गत इन घटनाओं का समावेश किया जा सकता है - चाणक्य द्वारा राक्षस और मलयकेतु में विग्रह कराने की चेष्टा, शकटदास को सूली देने का मिथ्या आयोजन,

सिद्धार्थक द्वारा राक्षस का विश्वासपात्र बनकर उसे धोखा देना आदि। 'प्राप्त्याशा' की योजना के लिए नाटककार ने चन्द्रगुप्त और चाणक्य के छदम विरोध, राक्षस द्वारा कुसुमपुर पर आक्रमण की योजना आदि घटनाओं द्वारा राक्षस का उत्कर्ष वर्णित किया है, किन्तु साथ ही कूटनीतिज्ञ चाणक्य की योजनाओं का भी वर्णन हुआ है। चाणक्य द्वारा राक्षस और मलयकेतु में विग्रह करा देने और राक्षस की योजनाओं को विफल कर देने की घटनाएँ 'नियताप्ति' के अन्तर्गत आती है। छठे-सातवें अंकों में 'फलागम' की सिद्धि के लिए राक्षस के आत्म- समर्पण की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हुए उसके द्वारा चन्द्रगुप्त के अमात्य-पद की स्वीकृति का उल्लेख हुआ है। उक्त अवस्थाओं का निरूपण नाटकार ने जितनी स्वच्छता से किया है, वह प्रशंसनीय है।

अर्थ-प्रकृतियाँ

कथानक के सम्यक विकास के लिए भारतीय आचार्यों ने कार्यावस्थाओं की भाँति पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ भी निर्धारित की हैं - बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य। इनमें से 'पताका' के अन्तर्गत मुख्य प्रासंगिक कथा को प्रस्तुत किया जाता है और 'प्रकरी' से अभिप्राय गौण प्रासंगिक कथाओं के समावेश से है। किन्तु, कथानक के सम्यक् विकास के लिए प्रासंगिक कथाओं और आधिकारिक कथा का सन्तुलित निर्वाह आवश्यक है। 'मुद्राराक्षस' में चाणक्य द्वारा राक्षस को अपने पक्ष में मिलाने का निश्चय कथावस्तु की 'बीज' है। जिसकी अभिव्यक्ति प्रथम अंक में चाणक्य की उक्ति में हुई है: ''जब तक राक्षस नहीं पकड़ा जाता, तब तक नन्दों के मारने से क्या और चन्द्रगुप्त को राज्य मिलने से ही क्या? इससे उसके पकड़ने में हम लोगों को निरूद्यम रहना अच्छा नहीं।" चाणक्य आदि का मलयकेतु के आश्रम में चले जाना बीजन्यास' अथवा बीज का आरम्भ है। बिन्दु' के अन्तर्गत इन घटनाओं की गणना की जा सकती है- निपुणक द्वारा चाणक्य को राक्षस की मुद्रा देना, शकटदास से पत्र लिखवाना, चाणक्य द्वारा चन्दनदास को बन्दी बनाने की आज्ञा देना। नाटक की फल-सिद्धि में सिद्धार्थक और भागुरायण द्वारा किए गए प्रयन्त 'पताका' के अन्तर्गत गण्य हैं। 'प्रकरी' का आयोजन 'मुद्राराक्षस' के तृतीय अंक के अन्त और चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में किया गया है-चाणक्य और चन्द्रगुप्त में मिथ्या कलह और राक्षस तक इसकी सूचना पहुंचना इसका उदाहरण है। राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त का मंत्रित्व स्वीकार करके आत्मसमर्पण कर देना 'कार्य' नाम्नी अर्थ-प्रकृति है: अवस्थाओं के अन्तर्गत इसी को फलागम की संज्ञा दी जाती है।

हिन्दी अनुवाद

भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' (1875 ई.), 'श्री चन्द्रावली' (1876), 'भारत दुर्दशा' (1876-1880 के मध्य), 'नीलदेवी' (1881) आदि मौलिक नाटकों की रचना के अतिरिक्त संस्कृत-नाटकों के अनुवाद की ओर भी ध्यान दिया था। 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद उन्होंने 1878 ई. में किया था। इसके पूर्व वे संस्कृत-रचना 'चौरपंचाशिका' के बंगला-संस्करण का 'विद्यासुन्दर'(1868) शीर्षक से, कृष्ण मिश्र के प्रबोधचन्द्रोदय' के तृतीय अंक का 'पाखंड विडम्बन' (1872) शीर्षक से और राजशेखर कृत प्राकृत-कृति 'सट्टक' का 'कर्पूर-मंजरी' (1875-76) शीर्षक से अनुवाद कर चुके थे। इन अनुवादों में उन्होंने भावानुवाद की पद्धित अपनाई है, फलतः इन्हें नाटयरूपान्तर कहना अधिक उपयुक्त होगा। नाटक के प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि स्थलों को उन्होंने प्रायः मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार शब्दानुवाद की प्रवृत्ति का आश्रय न लेकर चरित्र-व्यंजना में पर्याप्त स्वतन्त्र दृष्टिकोण रखा गया है। यही कारण है कि 'मुद्राराक्षस' में अनुवाद की शुष्कता के स्थान पर मौलिक विचारदृष्टि और भाषा-प्रवाह को प्रायः लक्षित किया जा सकता है। नाटकगत काव्यांश में यह प्रवृत्ति और भी स्पष्ट रूप में लक्षित होती है।

13

मृच्छकटिकम्

मृच्छकटिकम् (अर्थात्, मिट्टी का खिलौना या मिट्टी की गाड़ी) संस्कृत नाट्य साहित्य में सबसे अधिक लोकप्रिय रूपक है। इसमें 10 अंक है। इसके रचनाकार महाराज शूद्रक हैं। नाटक की पृष्टभूमि पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) है। भरत के अनुसार दस रूपों में से यह 'मिश्र प्रकरण' का सर्वोत्तम निदर्शन है। 'मृच्छकटिकम्' नाटक इसका प्रमाण है कि अंतिम आदमी को साहित्य में जगह देने की परम्परा भारत को विरासत में मिली है, जहाँ चोर, गणिका, गरीब ब्राह्मण, दासी, नाई जैसे–लोग दुष्ट राजा की सत्ता पलट कर गणराज्य स्थापित कर, अंतिम आदमी से नायकत्व को प्राप्त होते हैं।

मृच्छकटिकम् की कथावस्तु कवि प्रतिभा से प्रसूत है। उज्जयिनी का निवासी सार्थवाह विप्रवर चारूदत्त इस प्रकरण का नायक है और दाखनिता के कुल में उत्पन्न वसंतसेना नायिका है। चारूदत्त की पत्नी धूता पूर्वपरिग्रह के अनुसार ज्येष्ठा है, जिससे चारूदत्त को रोहितसेन नाम का एक पुत्र है। चारूदत्त किसी समय बहुत समृद्ध था, परंतु वह अपने दया दाक्षिण्य के कारण निर्धन हो चला था, तथापि प्रामाणिकता, सौजन्य एवं औदार्य के नाते उसकी महती प्रतिष्ठा थी। वसंतसेना नगर की शोभा है, अत्यंत उदार, मनस्विनी एवं व्यवहारकुशला, रूपगुणसंपन्ना साधारणी नवयौवना नायिका उत्तम प्रकृति की है और वह आसाधारण गुणों से मुग्ध हो उस पर निर्व्याज प्रेम करती है। नायक की यों एक साधारणी और एक स्वीया नायिका होने के कारण यह संकीर्ण प्रकरण माना जाता है।

इसकी कथावस्तु तत्कालीन समाज का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व करती है। यह केवल व्यक्तिगत विषय पर ही नहीं, अपितु इस युग की शासन व्यवस्था एवं राज्य स्थिति पर भी प्रचुर प्रकाश डालता है। साथ ही साथ वह नागरिक जीवन का भी यथावत् चित्र अंकित करता है। इसमें नगर की साज-सजावट, वारांगनाओं का व्यवहार, दास प्रथा, द्यूत क्रीड़ा, विट की धूर्तता, चौरकर्म, न्यायालय में न्यायनिर्णय की व्यवस्था, अवांछित राजा के प्रति प्रजा के द्रोह, एवं जनमत के प्रभुत्व का सामाजिक स्वरूप भली-भाँति चित्रित किया गया है। साथ ही समाज में दरिद्रजन की स्थिति, गुणियों का संमान, सुख दुरूख में समरूप मैत्री के बिदर्शन, उपकृत वर्ग की कृतज्ञता, निरपराध के प्रति दंड पर क्षोभ, राज वल्लभों के अत्याचार, वारनारी की समृद्धि एवं उदारता, प्रणय की वेदी पर बलिदान, कुलांगनाओं का आदर्श चरित्र जैसे–वैयक्तिक विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है। इस विशेषाता के कारण यह याथर्थवादी रचना संस्कृत साहित्य में अनूठी है। इसी कारण यह पाश्चात्य सहृदयों का अत्यधिक प्रिय लगी। इसका अनुवाद विविध भाषाओं में हो चुका है और भारत तथा सुदूर अमेरिका, रूस, फ्रांस, जर्मनी, इटली, इंग्लैण्ड के अनेक रंगमंचों पर इसका सफल अभिनय भी किया जा चुका है।

मृच्छकटिक' की कथा का केन्द्र है उज्जयिनी। वह इतना बड़ा नगर है कि पाटलिपुत्र का संवाहक उसकी प्रसिद्धि सुनकर बसने को, धन्धा प्राप्त करने को, आता है। हमें इसमें चातुर्वर्ण्य का समाज मिलता है–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मणों का मुख्य काम पुरोहिताई था, पर वे राजकाज में भी दिलचस्पी लेते थे। इस कथा में जो एक बड़ी गम्भीर बात मिलती है, वह यह है कि यहाँ ब्राह्मण, व्यापारी और निम्नवर्ण मिलकर मदान्ध क्षत्रिय राज्य को उखाड़ फेंकते हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है और फिर सोचने की बात यह है कि इस कथा का लेखक राजा शूद्रक माना जाता है, जो क्षत्रियों में श्रेष्ठ कहा गया है।

दस अंकों का परिचय

मृच्छकटिकम् में दस अंक हैं, प्रत्येक अंक में कई दृष्य हैं। इस नाटक में एक सच्चरित्र किन्तु गरीब ब्राह्मण चारुदत्त की कहानी है, जिसे सौंदर्यमयी गणिका वसन्तसेना प्रेम करती है। इसी के साथ आर्यक की राज्यप्राप्ति की राजनीतिक कथा भी गुँथी हुई है। कृतिकार ने दोनों कथाओं को कुशलता से जोड़ा है। यह नाटक मोटे तौर पर दो हिस्सों में हैं- पहला, वसन्तसेना और चारुदत्त का प्रेम-प्रसंग तथा दूसरा, राज्य विद्रोह के साथ आर्यक को राजपद की प्राप्ति।

पहला अंक

(अलंकारन्यास)–इस अंक में यह कथा है कि राजा का साला शाकार उज्जयिनी की प्रसिद्ध गणिका वसन्तसेना को पाना चाहता है। अपने दो साथियों के साथ एक अँधेरी रात में वह वसन्तसेना का पीछा करता है। भयभीत वसन्तसेना चारुदत्त के घर में शारण लेती है। चोरों से बचने की बात कहकर वह अपने सारे स्वर्ण-आभूषाण चारुदत्त के घर में धरोहर के रूप में छोड़ देती है।

दूसरा अंक

(द्यूतकार-संवाहक)–संवाहक, जो पहले चारुदत्त की सेवा में था, जुए की लत लगने पर बहुत सा धन हार जाता है। बचाव के लिए वह वसन्तसेना के घर शारण लेता है, जो अपना कंगन देकर उसे ऋणमुक्त करती है। वह बौद्ध-भिक्षु बन जाता है।

तीसरा अंक

(संधिच्छेद)–शार्विलक नाम का ब्राह्मण वसन्तसेना की दासी मदनिका से प्रेम करता है। उसे दासत्व से छुड़ाने के लिए वह एक रात चारुदत्त के घर में सेंध लगाकर वसन्तसेना द्वारा धरोहर रखे गए सोने के सारे आभूषण चुरा लेता है। उधर चारुदत्त की पतिव्रता पत्नी धूता अपने पति को लोकनिन्दा से बचाने के लिए, चुराए गए आभूषाणों के बदले में अपनी कीमती रत्नावली देती है, चारुदत्त वह रत्नावली देकर विदूषक मैत्रोय को वसन्तसेना के घर भेजता है।

चौथा अंक

(मदनिका-शर्विलक)–शार्विलक चुराए हुए आभूषाण लेकर मदनिका को दासत्व से मुक्त कराने के लिए वसन्तसेना के घर पहुँचता है। चोरी की बात सुनकर मदनिका बहुत दु:खी होती है। इस गलती को सुधारने की भावना से वह शार्विलक को यह समझाती है कि चोरी के आभूषण वसन्तसेना को सौंप देने से न वह चोर रहेगा, न चारुदत्त के सिर पर ऋण रहेगा और वसन्तसेना के आभूषण उसे वापिस मिल जाएँगे, शार्विलक ऐसा ही करता है। वह वसन्तसेना से कहता है कि चारुदत्त ने यह संदेश भेजा है कि घर जर्जर होने से हम स्वर्णपात्र को सुरक्षित नहीं रख सकते, अत: आप इसे अपने पास रखें। वसन्तसेना संदेश के बदले में कुछ ले जाने की बात कहकर मदनिका को शार्विलक को सौंप देती

है। इसी अंक में विदूषक वसन्तसेना से मिलकर कहता है कि स्वर्णपात्र जुए में हार गए हैं, इसलिए यह रत्नावली स्वीकार करें। वसन्तसेना वास्तविकता जानती है, पर कुछ नहीं करती। वह शाम को चारुदत्त के घर आने का निश्चय करती है।

पाँचवाँ अंक

(दुर्दिन)–इस अंक में वर्षा-ऋतु वर्णन हुआ है। वसन्तसेना चारुदत्त से मिलती है और वर्षा की झड़ी के कारण रात उसी के घर रुक जाती है।

छठा अंक

(प्रवहणविपर्यय)–सुबह चारुदत्त पुष्पकरण्डक उद्यान में घूमने जाता है, वसन्तसेना के लिए गाड़ी तैयार रखने का आदेश देकर, ताकि वह उसमें उद्यान तक यात्रा कर सके। यहीं वसन्तसेना चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को यह जिद करते देखती है कि वह मिट्टी की गाड़ी से नहीं स्वर्ण-शकटिका (सोने की गाड़ी) से खेलना चाहता है। वसन्तसेना सारे आभूषाण मिट्टी की गाड़ी में रखकर कहती है कि इससे सोने की गाड़ी बना लेना। वसन्तसेना चारुदत्त से उद्यान में भेंट करने निकलती है, पर भूल से उसी स्थान पर खड़ी शाकार की गाड़ी में बैठ जाती है। उधर कारागार तोड़कर, रक्षक को मारकर निकल भागा ग्वाले का बेटा आर्यक, बचाव के लिए चारुदत्त के वाहन में चढ़ जाता है। रास्ते में दो पुलिस के सिपाही- वीरक और चन्दनक वाहन देखते भी हैं, पर उनमें से एक आर्यक को रक्षा करने का वचन देकर जाने देता है।

सातवाँ अंक

(आर्यकापहरण)–राजा पालक ने सिद्धों की भविषयवाणी पर विश्वास करके, जिस आर्यक नामक व्यक्ति को बन्दी बना लिया था, जब वह बंधन तोड़कर बचता हुआ चारुदत्त की गाड़ी में चढ़कर उद्यान में चारुदत्त के समक्ष आता है और उनसे शारण माँगता है। चारुदत्त उसे सुरक्षित अपनी गाड़ी में बाहर निकलवा देता है।

आठवाँ अंक

(वसन्तसेना-मोटन)–भूल से शाकार की गाड़ी में बैठी वसन्तसेना जब उद्यान में पहुँचती है तो चारुदत्त के स्थान पर दुष्ट शाकार से उसका सामना होता

है। वसन्तसेना एक बार फिर शाकार के चंगुल में फँस जाती है, शाकार का आग्रह न मानने पर वह वसन्तसेना का गला घोंट देता है और उसे मरा जानकर पत्तों से ढक कर चला जाता है। तभी जुआरी से बौद्ध-भिक्षु बन चुका संवाहक मृतप्राय वसन्तसेना को विहार में लाकर पुनर्जीवन देता है।

नवाँ अंक

(व्यवहार)–शाकार चारुदत्त को वसन्तसेना की हत्या का आरोपी बनाता है। न्यायालय में विवाद चलता है, चारुदत्त स्वयं को निर्दोष साबित नहीं कर पाता। दु:खी चारुदत्त अपने मित्र मैत्रोय की प्रतीक्षा करता है, जो वसन्तसेना के पास उन आभूषणों को लौटाने गया था, जो वसन्तसेना ने रोहसेन की मिट्टी की गाड़ी के स्थान पर सोने की गाड़ी बना लेने को दे दिए थे। इसी क्षण वही आभूषण लेकर मैत्रोय आ जाता है, किन्तु बातचीत करते हुए मैत्रोय से बगल में संभाले हुए वे आभूषाण सबके सामने गिर पड़ते हैं और यह मान लिया जाता है कि आभूषणों के लोभ में चारुदत्त ने ही वसन्तसेना की हत्या की है। उसे मृत्युदण्ड का आदेश देकर वधस्थल की ओर ले जाया जाता है।

दसवाँ अंक

(संहार)–इस अंक में एक तो शाकार का सेवक स्थवरक चारुदत्त को निर्दोष बताता है, पर उसका कोई विश्वास नहीं करता। दूसरे ठीक इसी समय प्राण बचाने वाले बौद्ध-भिक्षु बने संवाहक के साथ आकर वसन्तसेना शाकार की दुष्टता व्यक्त कर देती है और चारुदत्त झूठे आरोप से मुक्त हो जाता है। इधर राज्य में नए राजा आर्यक का आगमन होता है, वह न केवल आरोप मुक्त चारुदत्त को राज्य देता है, बल्कि झूठा आरोप लगाने के कारण शाकार को मृत्यु-दण्ड भी देता है, किन्तु चारुदत्त के कहने पर शाकार को भी क्षमा कर दिया जाता है। पतिव्रता धूता चारुदत्त के लिए मृत्यु-दण्ड का समाचार सुनकर अग्नि-प्रवेष को तत्पर हो उठती है, चारुदत्त उपस्थित होकर इस दु:खद घटना को रोकता है। राजा आर्यक प्रसन्न होकर वसन्तसेना को 'वधू' के पद से विभूषित करता है। भिक्षु संवाहक को सब विहारों का कुलपति बना दिया जाता है। दास स्थवरक को दासता से मुक्त किया जाता है, मृत्युदण्ड देने वाले चाण्डालों को चाण्डालों का प्रमुख बना दिया जाता है, यहाँ तक कि शाकार को भी अभयदान दिया जाता है। इन सुखद घटनाओं के साथ नाटक समाप्त होता है।

साहित्यिक समीक्षा

मृच्छकटिक की न केवल कथावस्तु ही अत्यंत रोचक है, अपितु कवि की चरित्र चित्रण की चातुरी बहुत उच्च कोटि की है। यद्यपि इसमें प्रधान रस विप्रलंभ श्रृंगार है, तथापि हास्य, करूणा, भयानक एवं वात्सल्य जैसे–हृदयहारी विविध रसों का सहज सामंजस्य है। ग्रीक नाट्यकला की दृष्टि से भी परखे जाने पर इसका मूल्य पाश्चात्य मनीषियों द्वारा बहुत ऊँचा आँका गया है। इसकी भाषा प्रसाद गुण से संपन्न हो अत्यंत प्रांजल है। प्राकृत के विविध स्वरूपों का दर्शन इसमें होता है- प्राच्या, मागधी और शौरसेनी के अतिरिक्त, सर्वोत्तम प्राकृत महाराष्ट्री और आवंती के भव्य निदर्शन यहाँ उपलब्ध होते हैं। ग्रियर्सन के अनुसार इस प्रकरण में शाकारी विभाषा में टक्की प्राकृत का भी प्रयोग पाया जाता है। शब्दचयन में माधुरी एवं अर्थव्यक्ति की ओर कवि ने सविशेष ध्यान दिया है, जिससे आवंती एवं वैदर्भी रीति का निर्वाह पूर्ण रूप से हुआ है।

मृच्छकटिक में दो कथाएँ हैं। एक चारुदत्त की, दूसरी आर्यक की। गुणाढ्य की बृहत्कथा में गोपाल दारक आर्यक के विद्रोह की कथा है। बृहत्कथा अपने मूल रूप में पैशाची भाषा में 'बड्डकहा' के नाम से लिखी गई थी। इससे प्रकट होता है कि यह नाटक ईस्वी पहली शती या दूसरी शती का है।

यह नाटक संस्कृत साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है। इसमें–

(1) गणिका का प्रेम है। विशुद्ध प्रेम, धन के लिए नहीं, क्योंकि वसंतसेना दरिद्र चारुदत्त से प्रेम करती है। गणिका कलाएँ जानने वाली ऊँचे दर्जे की वेश्याएँ होती थीं, जिनका समाज में आदर होता था। ग्रीक लोगों में ऐसी ही 'हितायरा' हुआ करती थीं।

(2) गणिका गृहस्थी और प्रेम की अधिकारिणी बनती है, वधू बनती है और कवि उसे समाज के समान्य पुरुष ब्राह्मण चारुदत्त से ब्याहता है। ब्याह कराता है, रखैल नहीं बनाता। स्त्री-विद्रोह के प्रति कवि की सहानुभूति है। पाँचवें अंक में ही चारुदत्त और वसंतसेना मिल जाते हैं, परन्तु लेखक का उद्देश्य वहीं पूरा नहीं होता। वह दसवें अंक तक कथा बढ़ाकर राजा की सम्मति दिलवाकर प्रेमपात्र नहीं, विवाह कराता है। वसंतसेना अन्तःपुर में पहुँचना चाहती है और पहुँच जाती है। लेखक ने इरादतन यह नतीजा अपने सामने रखा है।

(3) इस नाटक में कचहरी में होने वाले पाप और राजकाज की पोल का बड़ा यथार्थवादी चित्रण है, जनता के विद्रोह की कथा है।

(4) इस नाटक का नायक राजा नहीं है, व्यापारी है, जो व्यापारी-वर्ग के उत्थान का प्रतीक है।

(5) इसमें दो भाषाओं का प्रयोग है, जैसा कि प्रायः संस्कृत के और नाटकों में है। राजा, ब्राह्मण और पढ़े-लिखे लोग संस्कृत बोलते हैं और स्त्रियां और निचले तबके के लोग प्राकृत।

ये इसकी विशेषताएँ हैं, इस नाटक की राजनीतिक विशेषता यह है कि इसमें क्षत्रिय राजा बुरा बताया गया है। गोप-पुत्र 'आर्यक' एक ग्वाला है, जिसे कवि राजा बनाता है। यद्यपि कवि वर्णाश्रम को मानता है, पर वह गोप को ही राजा बनाता है।

ऐसा लगता है कि यह मूलकथा पुरानी है और सम्भवतः यह घटना कोई वास्तविक घटना है, जो किंवदन्ती में रह गई। दासप्रथा के लड़खड़ाते समाज का चित्रण बहुत सुन्दर हुआ है और यह हमें चाणक्य के समय में मिलता है, जब 'आर्य' शब्द 'नागरिक' (रोमन–'Citizen') के रूप में प्रयुक्त मिलता है। हो सकता है, कोई पुरानी किंवदन्ती चाणक्य के बाद के समय में इस कथा में उतर आई हो। बुद्ध के समय में व्यापारियों का उत्कर्ष भी काफी हुआ था। तब उज्जयिनी का राज्य अलग था, कोसल का अलग। यहाँ भी उज्जयिनी का वर्णन है। एक जगह लगता है कि उस समय भी भारत की एकता का आभास था, जब कहा गया है कि 'सारी पृथ्वी आर्यक ने जीत ली'–वह पृथ्वी जिसकी कैलास पताका है। देखा जाए तो कवि यथार्थवादी था और निष्पक्ष था। उसने सबकी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दिखाई हैं और बड़ी गहराई से चित्रण किया है। यही उसकी सफलता का कारण है।

रचनाकार एवं रचनाकाल

यह महाराज शूद्रक की कृति मानी जाती है, जो भास और कालिदास की भांति राज कवि हुए हैं। मृच्छकटिक ईसवी प्रथम शती के लगभग की रचना कही जा सकती है। कहा जाता है, भासप्रणीत 'चारूदत्त' नामक चतुरंगी रूपक की कथावस्तु को परिवर्धित कर किसी परवर्ती शूद्र कवि के द्वारा मृच्छकटिक की रचना हुई है। वस्तुतः इसकी कथावस्तु का आधार बृहत्कथा और कथासरित्सागर में वर्णित कथाओं में मिलता है।

प्राचीनता

मृच्छकटिक' की कथा का केन्द्र है उज्जयिनी। वह इतना बड़ा नगर है कि पाटलिपुत्र का संवाहक उसकी प्रसिद्धि सुनकर बसने को, धन्धा प्राप्त करने को, आता है। उस समय वह पाटलिपुत्र को महानगर नहीं कहता। इसका मतलब है कि उस समय पाटलिपुत्र से अधिक महत्त्व उज्जयिनी का था। स्पष्ट ही पाटलिपुत्र बुद्ध के समय में पाटलिपुत्र (ग्राम) था, जबकि उज्जयिनी में महासेन चण्ड प्रद्योत का समृद्ध राज्य था। दूसरी प्राचीनता है कि इसमें दास प्रथा बहुत है। दास-दासी धन देकर आजाद कर लिए जाते थे। उस समाज में गणिका भी वधू बन जाती थी। यह सब बातें ऐसे समाज की हैं, जहाँ ज्यादा कड़ाई नहीं मिलती, जो बाद में चालू हुई थी, बल्कि कवि ने गणिका को वधू बनाकर समाज में एक नया आदर्श रखा है। उसमें विद्रोह की भावना है। अत्याचारी को वह पशु की तरह मरवाता है, स्त्री को ऊँचा उठाता तथा दास स्थावरक को आजाद करता है। यों कह सकते हैं कि यह नाटक जो कि शास्त्रीय शब्दों में प्रकरण है–बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। कौन जानता है, ऐसे न जाने कितने सामाजिक नाटक काल के गाल में खो गए। हूणों से लेकर तुर्कों तक के विध्वंसों ने न जाने कितने ग्रन्थ-रत्न जला डाले!

अनुवाद एवं टीकाएँ

मृच्छकटिक पर अनेक टीकाएँ लिखी गई। इसके अनेक अनुवाद भी हुए हैं और अनेक संस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं। उनमें से सर्वप्राचीन टीका पृथ्वीधर की है। जीवानंद ने भी एक व्यापक टीका लिखी। हरिदास की व्याख्या अत्यंत मार्मिक है। आर्थर रायडर द्वारा इसका अंग्रेजी अनुवाद हार्वर्ड युनिवर्सिटी सीरीज में प्रकाशित हुआ है।

14

उत्तररामचरितम्

उत्तररामचरितम् महाकवि भवभूति का प्रसिद्ध संस्कृत नाटक है, जिसके सात अंकों में राम के उत्तर जीवन की कथा है।

भवभूति एक सफल नाटककार हैं। उत्तररामचरितम् में उन्होंने ऐसे नायक से संबंधित इतिवृत्त का चयन किया है, जो भारतीय संस्कृति की आत्मा है। इस कथानक का आकर्षण भारत के साथ-साथ विदेशी जनमानस में भी सदा से रहा है और रहेगा। अपनी लेखनी चातुर्य से कवि ने राम के पत्नी परित्याग रूपी चरित्र के दोष को सदा के लिये दूर कर दिया। साथ ही सीता को वनवास देने वाले राम का रुदन दिखाकर कवि ने सीता के अपमानित तथा दु:ख भरे हृदय को बहुत शान्त किया है। साहित्य शास्त्र में जहाँ नाटकों में श्रृंगार अथवा वीर रस की प्रधानता का विधान है, वहीं भवभूति ने उसके विपरीत करुण रस प्रधान नाटक लिखकर नाट्यजगत में एक अपूर्व क्रान्ति ला दी। भवभूति तो यहाँ तक कहते हैं कि करुण ही एकमात्र रस है। वहीं करुण निमित्त भेद से अन्य रूपों में व्यक्त हुआ है। विवाह से पूर्व नायक नायिका का श्रृंगार वर्णन तो प्राय: सभी कवियों ने सफलता के साथ किया है, परन्तु भवभूति ने दाम्पत्य प्रेम का जैसा उज्जवल एवं विशद चित्र खींचा है वैसा अन्यत्र दुलर्भ है।

सात अंकों में निबद्ध उत्तररामचरितम भवभूति की सर्वश्रेष्ठ नाट्यकृति है। इसमें रामराज्यमिषेक के पश्चात् जीवन का लोकोत्तर चरित वर्णित है, जो महावीरचरित का ही उत्तर भाग माना जाता है। संस्कृत नाट्यसाहित्य में

मर्यादापुरषोत्तम श्री रामचन्द्र के पावन चरित्र से सम्बद्ध अनेक नाटक है, किन्तु उनमें भवभूति का उत्तरराम चरितम् अपना एक अलग ही वैशिष्ट्य रखता है। काव्य शास्त्र में जहाँ नाटकों में श्रृंगार अथवा वीर रस की प्रधानता का विधान है वहीं भवभूति ने उसके विपरीत करुण रस प्रधान नाटक रचकर नाट्यजगत में एक अपूर्व क्रान्तिला दी है। उत्तररामचरितम् में प्रेम का जैसा शुद्ध रूप देखने को मिलता है, वैसा अन्य कवियों की कृत्तियों में दुर्लभ है। कवि ने इस नाटक के माध्यम से राजा का वह आदर्श रूप प्रस्तुत किया है, जो स्वार्थ और त्याग की मूर्ति है तथा प्रजारंजन ही जिसका प्रधान धर्म है। प्रजा सुख के लिये प्राणप्रिया पत्नी का भी त्याग करने में, जिसे कोई हिचक नहीं है। इस नाटक में प्रकृति के कोमल तथा मधुर रूप के वर्णन की अपेक्षा उसके गम्भीर तथा विकट रूप का अधिक वर्णन हुआ है, जो अद्वितीय एवं 'लाघनीय हैं। वास्तव में यह नाटक अन्य नाटकों की तुलना में निराला ही है। इसी कारण संस्कृत नाट्य जगत में इसका विशेष स्थान है। सार रूप में यही कहा जा सकता है कि विश्वास की महिमा में, प्रेम की पवित्रता में, भावनाओं की तरंगक्रीड़ा में, भाषा के गम्भीर्य में और हृदय के माहात्म्य में उत्तररामचरितम् श्रेष्ठ एवं अतुलनीय नाटक है।

कथा

जनापवाद के कारण राम न चाहते हुए भी सीता का परित्याग कर देते हैं। सीतात्याग के बाद विरही राम की दशा का तृतीय अंक में करुण चित्र प्रस्तुत किया गया है, जो काव्य की दृष्टि से इस नाटक की जान है। भवभूति ने इस दृश्यकाव्य में दांपत्य प्रणय के आदर्श रूप को अंकित किया है। कोमल एवं कठोर भावों की रुचिर व्यंजना, रमणीय और भयावह प्रकृति चित्रों का कुशल अंकन इस नाटक की विशेषताएँ हैं। उत्तररामचरित में नाटकीय व्यापार की गतिमत्ता अवश्य शिथिल है और यह कृति नाटकत्व की अपेक्षा काव्यतत्व और गीति नाट्यत्व की अधिक परिचायक है। भवभूति की भावुकता और पांडित्यपूर्ण शैली का चरम परिपाक इस कृति में पूर्णतः लक्षित होता है।

टीकाएँ

उत्तररामचरित पर अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें घनश्याम, वीरराघव, नारायण और रामचंद्र बुधेंद्र की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। इसके अनेक भारतीय संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अधिक प्रचलित निर्णयसागर संस्करण है, जिसका

प्रथम संस्करण सन् 1899 में मुंबई से प्रकाशित हुआ था। इसके और भी अनेक संपादन निकल चुके हैं। इनमें प्रसिद्ध संस्करण ये हैं–सी.एच. टॉनी द्वारा अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित (कलकत्ता, 1871), फ्रेंच अनुवाद सहित फेलीनेव द्वारा ब्रूसेल्स तथा पॉरिस से 1880 में प्रकाशित, डॉ. बेलवलकर द्वारा केवल अंग्रेजी अनुवाद तथा भूमिका के रूप में हॉर्वर्ड ओरिएंटल् सीरीज में संपादित (1915 ई.)।